वेणुगीत

हनुमान प्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

वेणुगीत

हनुमानप्रसाद पोद्दार

venugeet

By

Hanuman Prasad Poddar

प्रकाशक

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०– गीतावाटिका (गोरखपुर)

पिन–२७३००६

दूरभाष : (०५५१) ३१२४४२

E-Mail:- rasendu@vsnl.com

प्रथम संस्करण–राधाष्टमी सं० २०५७ वि०

मूल्य : पैंतिस रुपये मात्र

।। श्रीहरि ।।

नम्र निवेदन

पूज्य श्रीभाईजीकी मान्यता थी कि सत्साहित्य ही वास्तविक 'साहित्य' वाच्य है। साहित्य एक बड़े महत्त्वकी वस्तु है। उसमें मनुष्यके चित्तको खींचकर उसे चाहे जिस ओर लगा देनेकी शक्ति है। साहित्यका प्रभाव था कि एक दिन भारतकी गति सर्वथा भगवद्भिमुखी थी। आज यह साहित्यका ही प्रभाव है कि भारतीय मानव भगद्विमुख होकर भोगोंकी ओर दौड़ रहा है। लक्ष्य इतना महान् होनेसे ही श्रीभाईजीने प्रारम्भसे अन्ततक जो कुछ लिखा चाहे वह गद्यमें हो या पद्यमें मनुष्यमात्रके जीवनको सच्चे सुखकी ओर अग्रसर करनेके लिये ही लिखा।

लक्ष्य उच्चतम होनेके साथ ही वे स्वयं उस आध्यात्मिक भागवती स्थितिमें स्थित थे जिससे उनकी लेखनीसे निःसृत प्रत्येक शब्द मानवमात्रका मंगल करनेमें समर्थ हैं। लेखकके जीवनका प्रभाव अमोघ होता है। उन्होंने अपने जीवनकालमें जितना भी लिखा उनमेंसे पत्रोंको छोड़कर प्रायः अधिकांश पुस्तकाकार रूपसे छप गया है। प्रकाशन होनेसे रह गया है वह महत्त्वपूर्ण साहित्य जो उन्होंने अपने प्रवचनोंके माध्यमसे प्रदान किया। वैसे तो उनकी लेखनी अन्तिम समयतक क्रियाशील थी पर पिछले १५–१६ वर्षोंमें भाव–समाधिमें अधिक रहनेके कारण उन्होंने या तो अपनी दिव्य अनुभूतियों एवं लीलाओंके वर्णन पदोंमें किये या प्रत्येक महीने 'कल्याण' में उद्‌बोधनके रूपमें सम्पादकीय लेख लिखे। इनके अतिरिक्त

विशेषांकों तथा श्रीकृष्ण–जन्माष्टमी एवं श्रीराधाष्टमीके अवसरोंपर लिखते थे। वह सामग्री पुस्तकाकार हो गई है।

अब जो सामग्री प्रवचनोंमें निहित है उसे लेखबद्ध करनेका प्रयास चल रहा है। वैसे तो उनके जीवनकालमें भी प्रवचनोंके आधारपर कुछ लेख यदा–कदा 'कल्याण' में प्रकाशित होते रहे हैं पर वह सामग्री इतनी विपुल है कि अभीतक तो उसका कुछ अंश ही लेखबद्ध हो सका है। प्रस्तुत पुस्तकमें उन्होंने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके वेणुगीत पर जो प्रवचन माला दी थी उसीका लेखबद्ध रूप है। प्रायः उनके शब्दोंको ज्यों–का–त्यों देनेका प्रयास रखा है पर कुछ शब्द लेखकी भाषा बनानेके लिये जोड़ने–घटाने पड़ते हैं पर इस बातपर पूरा ध्यान रखा गया है कि उनके भाव वैसे–के–वैसे ही रहें। इन प्रवचनोंको लिपिबद्ध करनेमें श्रीवृजदेवजी दूबेसे पर्याप्त सहयोग मिला है। पूरी सावधानी रखनेपर भी हमलोगोंकी अल्पज्ञतावश कुछ त्रुटि रहनी संभव है। मेरा विश्वास है इसका अध्ययन, मनन प्रेरणाप्रद एवं आनन्ददायक होगा। कोई त्रुटि ध्यानमें दिलानेपर सुधारनेकी चेष्टा की जायगी।

वेणुगीतमें श्रीगोपांगनाओंके श्रीमुखसे भगवान्‌के वेणुनादका बड़ा ही सुन्दर हृदयस्पर्शी वर्णन है। यह भगवत्–प्रेमियोंके हृदयमें भावोद्दीपन करनेवाला है।

प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय–सूची

क्रम संख्या		पृष्ठ सं०
१.	प्राक्कथन	१
२.	वेणुकी महत्ता	३
३.	भगवान्‌का वन प्रवेश और वन–भूमिकी शोभा	६
४.	वेणुनाद	६
५.	वेणु–नादजनित रस–प्रवाह	११
६.	वंशी–निनादका हेतु	२२
७.	गोपियोंद्वारा नटवरवपुका ध्यान	३०
८.	भाव–साधना	५२
९.	गोपियोंद्वारा भूमि–शोभा व मयूर–दशा वर्णन	७१
१०.	हरिणियोंकी भक्ति	८१
११.	देव–बन्धुओंकी दशा	८५
१२.	गायों और गोवत्सोंका वेणुनाद–पान	९५
१३.	मुनियोंका नादश्रवण और नदियों द्वारा कमलोपहार अर्पण	१०८
१४.	मेघोंकी सेवा	१४१
१५.	भीलनियोंकी दशा	१४८
१६.	श्रीगोवर्धनकी प्रेमा–भक्ति	१५९
१७.	उपसंहार	१६९

पद—रत्नाकरसे

(१)
मुरलीकी मोहिनी

बजावत मुरली स्याम सुजान।
बन संगीत—रूप रसमय प्रिय छेड़त मीठी तान।।
धन्य भई सब राग—रागिनी, बड़भागिनी महान।
हरि—मुख बसी, निकसि मुरली—छिद्रन तें सुधा—समान।।
हर्‌यो सकल विष जग—विषयन कौ, कर्‌यौ उदय अनुराग।
प्रियतम—स्याम—चरन—पंकज में, भयौ सहज सब त्याग।।
टूटि गये सब बंधन, जागे परम सखीके भाग।
मुरली की मोहनी मिटाये भोग—विराग—विभाग।।

(पद सं० २५४)

(२)
मुरली—धुनि

ग्वालिन मुरली—धुनि सुनि अटकी।
रही निहारति तरु—साखा—दिसि बृत्ति न नेकहु सटकी।।
दधि दुरि चल्यौ, लई सिर तैं जब कर उतारि दधि—मटकी।
ठाढ़ी माटी की पुतरी—सी अटल—अचल, मति ठिठकी।।
भौंचक रही देखि मोहन—छबि सुषमा पियरै पटकी।
बदन—कमल—रसमाती दृग—मधुकरी रहत, नहीं हटकी।।

(पद सं० २५७)

।। श्रीहरिः ।।

वेणुगीत

प्राक्कथन

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम्।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम्।।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः।।

नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है। प्यारे व्रजेन्द्र-नन्दन ! तुम्हारी विश्व-जन-मन-मोहिनी मुरलीके मधुरस्वरमें कितनी मादकता है, जिसके कर्णरन्ध्रमें एक बार भी वह स्वर प्रवेश कर जाता है, उसीको तुरन्त पागल बना देता है। वह फिर संसारके विषय-जन्य मन्द रसोंको विस्मृत कर एक दिव्य रसका आस्वाद पाता है। लज्जा-संकोच, धैर्य-गाम्भीर्य, कुल-मान, लोक-परलोक सभी कुछ भूल जाता है। उसके लिये तुच्छ पार्थिव विलास-रस सम्पूर्णरूपसे विनष्ट होकर एक अपूर्व स्वर्गीय अलौकिक रसका प्रादुर्भाव हो उठता है, उसकी चित्त-वृत्तियोंकी सारी विभिन्न गतियाँ मिट जाती हैं और वे सब-की-सब एक भावसे, एक ही लक्ष्यकी ओर, एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। एक ऐसा नशा शरीर-मनपर छा जाता है कि फिर जीवनभर वह कभी उतरता ही नहीं, जब कभी उतरता है तो 'अहम्' को लेकर ही उतरता है।

जिस शुभ क्षणमें व्रजमण्डलमें तुम्हारी वंशी बजी उस क्षण व्रजके प्रेमी जीवोंकी क्या दशा हुई थी, इस बातका मधुरातिमधुर अनुभव उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको होता है। हमलोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सुनते हैं कि तुम्हारी उस वंशीध्वनिने जड़को चैतन्य और चैतन्यको जड़ बना दिया था। सारे कामियोंको विशुद्ध प्रेमी बना दिया था। तुम्हारे मुरली—निनादको सुनकर सांसारिक भोगोंकी सबकी सारी कामनाएँ क्षणभरमें नष्ट हो गयीं थीं और संसारके प्रिय—से—प्रिय पदार्थोंको तृणवत् त्यागकर सबका चित्त केवल एक तुम्हारी ओर ही लग गया था।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है। अतएव यह साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ—मन्मथ मदनमोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकार सम्पन्न अपने भक्त साधकोंमें इस कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सबकुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं। साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माको पतन करनेवाले विषय—विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्के जीवोंको उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये इस चिन्मय नादका संचार करते हैं।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं, सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं। इसीसे अवतार विग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते—सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों—करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है। चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था। श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही नादावतार था। इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधाममें जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना दिया था। मोहनके वेणुनिनादमें वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्धमें, प्रत्येक पशु—पक्षीमें, स्थावर—जंगममें, पत्र—पत्रमें, कण—कणमें और अणु—अणुमें प्रेमानन्द भर दिया।

इस प्रकार दिव्य धामकी दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन, जीव, जड़वत् अचल हो गये। और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्षादि नहीं, सूखे काठ तक रस बरसाने लगे।

सूरदासजीने कहा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यो।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो।।
स्वरग पताल दसौं दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौं।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई गोपिनकों सुख दीनौं।।
जड सम भये जीव जल थलके तनकी सुधि न सम्हारा।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब ब्यवहारा।।

इस वंशीनादसे आकृष्ट गोपीजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर रूपसे किया है। भागवतका वेणुगीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें—सुनें।

वेणुकी महत्ता

भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीला मधुरतम है। श्रीमद्भागवतमें उस व्रजलीलाका सांकेतिक वर्णनमात्र है। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें कई गीत उपनिबद्ध किये हैं। उनमें एक है वेणुगीत। व्रजलीलामें मुरलीका, वेणुका अपना एक विशेष स्थान है। वेणुकी महत्ता इतनी ऊँची है कि उसकी कहीं तुलना नहीं है—'**वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य**'। भगवत्—प्रेमके भावोद्दीपनमें वेणुका ही प्रधान कार्य रहता है। वेणुगीतमें श्रीगोपांगनाओंके श्रीमुखसे भगवान्‌के वेणुनादका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। वे ठीक अपने—अपने घरोंमें थीं, परंतु घरोंमें रहते हुए भी वे मनसे नन्द—नन्दनके साथ थीं—नन्द—नन्दनको, उनके स्वरूप—सौन्दर्यको देख रहीं थीं। जहाँ श्यामसुन्दर वेणुनाद कर रहे थे, वहाँकी स्थिति देख रही थीं और वेणु—नादका गान सुन रही थीं।

एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्‌के जितने भी आभूषण, आयुध, वस्त्र, लीला—सामग्री हैं—ये सब—के—सब चेतन हैं, जड नहीं हैं। भगवान्‌का श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय—दिव्य है, भौतिक नहीं। भगवान्‌के जन्मके तत्त्वको जान लेनेसे जन्म होना बंद हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।

(४। ९)

भगवान्‌ने कहा है कि मेरा जन्म और मेरे इस प्राकट्यके कर्म सब-के-सब दिव्य हैं। इन्हें जो तत्त्वसे जान लेता है, वह फिर जन्म नहीं लेता। 'मामेति' वह मुझे ही प्राप्त होता है। जिनके जन्मको जान लेनेसे जान लेनेवालेका अनादिकालीन जन्म होना बंद हो जाय, वह जन्म हमलोगोंके जन्म-सा नहीं है। अजन्माका जन्म है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।

(गीता ४। ६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अजन्मा रहते हुए ही, अविनाशी रहते हुए ही, समस्त प्राणी-जगत्‌के महान् ईश्वर रहते हुए ही, अपनी प्रकृतिके द्वारा अपनी लीलासे, अपनी मायासे मैं प्रकट होता हूँ। ये अजन्माका जन्म, अविनाशीका तिरोधान और समस्त प्राणी-जगत्‌के महेश्वरकी पराधीनता—सारी-की-सारी लीलाएँ सच्चिन्मयी हैं। इस लीला-परिकरके सम्पूर्ण साधन भी चेतन हैं, जड़ नहीं। लीलाके लिये ही उन्होंने जड़ता स्वीकार की है। मुरली भी जड़ नहीं, लीलामें यद्यपि वह बाँसकी बनी हुयी है पर जड़ नहीं। मुरली श्रीगोपांगनाओंकी लीलाकी वस्तु है। गोपांगनाओंके हृदयमें मुरलीके प्रति बहुत बड़ा प्यार है; क्योंकि मुरली उनके प्रियतम श्रीकृष्णके होठोंपर लगी रहनेवाली, प्रियतमको सुख देनेवाली है। प्रियतमको सुख देनेवाली जो वस्तु है, वही उनके लिये परमादरणीय, परम पूजनीय, परम प्रेमास्पद है, इसमें संदेह नहीं। मुरलीका अधिक महत्त्व प्रकट हो, इसलिये भगवान्‌की योगमायाने कुछ गोपांगनाओंके मनमें एक लीलाकी प्रेरणा की। उनके मनमें एक भावना प्रकट हुई कि यह मुरली निरन्तर श्यामसुन्दरके साथ रहती है, कभी अधरोंपर लगी हुई, कभी बगलमें और कभी वे इसे टेंटमें खोंसकर रखते हैं। सोते रहें तब भी वे मुरलीको बगलमें रखकर या टेंटमें खोंसकर सोते हैं। शयन-जागरणमें जो नित्य-निरन्तर प्रियतमके साथ लगी रहे, उसके सौभाग्यका क्या ठिकाना? श्रीगोपांगनाओंके मनमें योगमायाने (योगमाया भी श्रीगोपांगनाओंका ही स्वरूप है, भगवान्‌की शक्ति है।) ऐसी भावना पैदा की कि ऐसा क्यों होना चाहिये। तब उन्होंने

श्यामसुन्दरसे पूछा—इतना वंशीका आदर ? क्या वह इस योग्य है ?' तब भी न तो श्यामसुन्दर माने और न वंशीने भी उनके द्वारा अपमानित होकर श्यामसुन्दरका संग छोड़ा।

जब कभी कोई इस प्रकारका बाहरी आक्रमण होता है, तब दोनोंमेंसे कोई एक भयभीत हो जाता है, सशंकित हो जाता है और साथ छोड़ देता है; परंतु न मुरलीको छोड़ा मुरलीमनोहरने और न मुरलीने छोड़ा मुरलीमनोहरको। तब गोपांगनाओंके मनमें एक विशेष बात पैदा हुई कि अवश्य इसमें कोई विशेषता है। इस वंशीमें कोई और महत्त्वकी वस्तु है, अतः वंशीसे ही पूछें। श्रीगोपांगनाएँ परास्त होकर, हारकर सब एकत्र होकर मुरलीकी सेवामें पहुँचीं और उससे पूछने लगीं—'मुरली ! तुमने क्या तप किया है, तुमने कौन-सी आराधना की है, तुमने किस प्रकारसे श्यामसुन्दरको प्राप्त करनेका साधन किया है ? वह हमें बताओ। इतना सौभाग्य कि तुम इधर तो जड़ बाँसकी बनी हुई दीखती हो और उधर श्यामसुन्दरका तुमपर इतना मोह है कि क्षणभरके लिये वे तुम्हें नहीं छोड़ते। अवश्य ही तुमने कोई विशेष आराधना की है, तप किया है।' मुरली बड़ी विनम्र है। यह एक सिद्धान्त है कि भगवान्‌को जो पा लेता है, उसमें विनम्रता आ जाती है। उसका अभिमान नष्ट हो जाता है। रामकृष्ण परमहंसने एक जगह कहा है कि सिद्ध होनेपर जैसे आलू और बैंगन नरम हो जाते हैं, उसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होनेपर सिद्ध पुरुष भी विनम्र हो जाता है, नरम हो जाता है।

मुरलीने कोई तप, बल, अभिमानकी बात नहीं कही, अपितु उसने कहा—'मेरे पास तो कुछ है ही नहीं, न मैंने तप किया, न मेरे पास और कोई साधन ही है। इतना अवश्य है कि मेरे अंदरका काँटा छीलकर खाली कर दिया गया है।' (बाँसमें गाँठें होती हैं, यदि वे गाँठें मुरलीमें रहें तो मुरली बज नहीं सकती।) मुरलीके अंदरकी तमाम गाँठें निकाल दी गयीं, वह निर्ग्रन्थि हो गयी। मुरलीने कहा—'मैंने कुछ नहीं किया। मेरे अंदरको खाली कर दिया गया और मुझमें छेद कर दिये गये, मैं छिद्रोंवाली हो गयी—एक छेद नहीं, सात-सात छेद (सात स्वर होते हैं)। अब मेरे पास अपना कुछ भी नहीं। इन छिद्रोंके द्वारा श्यामसुन्दर जो सुर भर देते हैं, वही इन छिद्रोंमेंसे निकलता है, मैं इतना ही जानती हूँ और कुछ भी नहीं।'

अंदरको खाली कर देनेपर, श्यामसुन्दरका सुर भरनेके लिये छिद्र

करवा लेनेपर और अंगोंको कटका लेनेपर श्यामसुन्दर मिलते हैं। यह मुरलीकी बड़ी महत्ता है।

शरदृतु व्रजमें आ गयी। भगवान्‌ने उसकी शोभाको देखा। भगवान्‌की इच्छा हुई वन देखनेकी, तब वे वनमें प्रविष्ट हुए, वहाँ उन्होंने वंशीवादन किया। गोपांगनाओंने उसे सुना और उस वेणुके सम्बन्धमें गोपांगनाओंने परस्पर चर्चा की। उसीका नाम 'वेणुगीत' है। यह श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके २१वें अध्यायमें है। उसीका थोड़ा—बहुत हमलोग (अपनी ग्रहण करनेवाली--समझनेवाली बुद्धिशक्ति तो है नहीं, किसी प्रकार ये महात्माओंके द्वारा लिखे हुए शब्दोंका) स्मरण करनेकी चेष्टा करते हैं।

भगवान्‌का वन प्रवेश और वन—भूमिकी शोभा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥
कुसुमितवनराजशुष्मभृंगद्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्जुजुष वेणुम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १—२)

श्यामसुन्दरने असंख्य गायों और गोपबालकोंको साथ लेकर उनसे घिरे हुए जहाँ शरत्कालीन स्वच्छ जलसे परिपूरित सरोवर थे, जिनमें खिले हुए कमलोंकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी, मन्द—मन्द सुगन्धित पवन बह रहा था, ऐसी वन—भूमिमें प्रवेश किया। इन मधुपति श्रीकृष्णने बलदेव और गोपबालकोंके साथ गोचारण करनेके लिये जब वनमें प्रवेश किया, तब उन्होंने देखा कि लाखों—लाखों फूल खिल गये। सारी वनभूमि प्रफुल्लित हो गयी। फूलोंसे भर गयी है। मतवाले भौंरे गुंजार करने लगे, तोता—मैना तथा नाना प्रकारके अन्य पक्षी बड़ा सुन्दर मधुर गान करने लगे। वहाँपर मुरलीनाथ श्रीकृष्णने सरोवर और पर्वत आदिको निनादित करते हुए मुरली बजायी।

बात क्या है? शुकदेवजीने इसके पूर्व अध्यायमें वृन्दावनकी शरत्कालीन शोभाका वर्णन किया है और इस अध्यायमें शरत्कालीन वन—बिहारका वर्णन करनेके लिये प्रस्तुत हुए हैं। शरदृतुमें श्रीवृन्दावनमें अतुलनीय शोभाका विकास होता है। इसका कुछ वर्णन पहले किया जा चुका है कि अनन्त लीलामय श्रीकृष्ण वृन्दावनकी इस शारदीय शोभाको देखकर बड़े

प्रसन्न हुए, प्रफुल्लित हो गये और वनकी शोभा देखनेके लिये वन-विहार करनेके उद्देश्यसे असंख्य गोपबालकों (गायोंकी रखवाली करनेवाले बालकों) के साथ उन्होंने वनमें प्रवेश किया। वृन्दावनकी वनभूमिमें बहुत-से सरोवर हैं—कुसुम-सरोवर, पावन-सरोवर, मानसी गंगा आदि।

अभी भी ये किसी रूपमें वर्तमान हैं। जब शरदृतु आती है, तब वर्षाऋतुमें जो इनमें अस्वाभाविक कुछ वस्तुएँ पैदा हो जाती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं। शरत्काल आनेपर स्वाभाविक उनमें गम्भीरता आ जाती है। तरंगोंका उछलना, सरोवरोंका उफनना बंद हो जाता है और वह अस्त-व्यस्त प्रवाह मिट जाता है। यमुनाका जल बड़ा स्वच्छ—काँचके समान हो जाता है और उनकी मूर्ति बड़ी शान्त हो जाती है। तमाम जलाशयोंका जल स्वच्छ हो गया। उनमें अगणित कुसुमराशि सुशोभित हो गयी। वहाँका गन्धवाह पवन उस सुगन्धको लेकर वनमें सर्वत्र बिखेरने लगा। वनकी शोभा परमोत्कृष्ट हो गयी। जलाशय स्वच्छ, वन प्रफुल्लित और पवनके द्वारा सर्वत्र फैली हुई दिव्य सुगन्ध—इस शोभाका दर्शन करके मानो व्रजेन्द्र-नन्दन एक परम आनन्दकी सुगन्धमें निमग्न हो गये, आनन्दमग्न हो गये। आनन्दमग्नता तो भगवान्‌में नित्य ही है।

वे आनन्दमें निमग्न होकर डूबे रहें सो ठीक है, पर उनके अंदरसे आनन्दकी तरंगें अपने-आप उठती हैं। वे तरंगें सारे जगत्‌में आनन्दका स्रोत बहा देती हैं। स्वयं गये थे आनन्दमें निमग्न होकर वनमें, परंतु आनन्दका उल्लास मुरली-ध्वनिके रूपमें प्रकट हो गया और उसने सारे व्रजमण्डलको आनन्दित कर दिया। वृन्दावनकी यह वनभूमि स्वाभाविक ही अनिर्वचनीय शोभामय है। ऋतु-प्रकृतिके स्वामी साक्षात् यशोदानन्दनके आनेपर वनभूमिने आज विशेष उल्लासमें भरकर अपनेको शोभासम्पन्न कर लिया।

जब वसन्त ऋतु आती है, तब वनमें नाना प्रकारके पुष्प विकसित हो जाते हैं, बड़ी शोभा होती है। भगवान्‌को यहाँ 'मधुपति' कहा गया है। 'मधु' वसन्तको कहते हैं। वसन्तके आनेसे सारी वनभूमि वसन्तका स्वागत करनेके लिये उत्फुल्ल हो जाती है; परंतु आज तो वसन्तके स्वामी आ रहे हैं, जो वसन्तके द्वारा सेवनीय हैं। वसन्त भी जिनकी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है उस वनभूमिकी आज विशेष शोभा होगी, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। व्रजराज, व्रजनन्दनने ज्यों ही वनभूमिमें प्रवेश किया, त्यों ही

मानो इनके शुभागमनसे आनन्दकी लहर सर्वत्र फैल गयी। जैसे बिजलीके कनेक्शन आनेपर जहाँ–जहाँ बल्ब होते हैं, वहाँ–वहाँ उस बिजलीका प्रकाश एक साथ हो जाता है, इसी प्रकार इनके शुभागमन–आनन्दमें सारे वनमें आनन्दकी लहर दौड़ गयी और देखते–देखते जिन वृक्षोंमें पुष्प नहीं थे, उनमें पूर्णतः पुष्प पैदा हो गये। जहाँ थोड़े पुष्प थे, वहाँ अनन्त–असंख्य पुष्प हो गये। उस समय अगणित पुष्पोंका विकास देखकर ऐसा भान होने लगा कि वनके वृक्षोंमें फूल लगे हैं या सारा वन ही कुसुममय हो गया है। वहाँ आजके इस दृश्यको देखनेवाले संत–महात्मा लोग कहते हैं कि सारे वृक्षोंने मानो देवताओंसे अन्तःप्रार्थना की कि हमारे जीवनमें जितने भी पुष्प खिलनेवाले हैं, वे सारे आज ही खिल जायँ, अभी खिल जायँ। देवताओंने उनकी प्रार्थना सुन ली। अतएव वे सारे वृक्ष पुष्पभारसे लद गये। मानो सारे वृक्षोंपर, सारे वनपर कुसुमोंकी हँसी खिल गयी और श्रीकृष्णके आगमनका अभिनन्दन करने लगी। सम्पूर्ण वनके पुष्पोंने हँस–हँसकर भगवान्‌का स्वागत किया।

जब अगणित पुष्प, वह कल्पनातीत पुष्प–राशि खिल उठी और पुष्पोंका हास्य वनको सुशोभित करने लगा, तब भ्रमरोंके मनमें भी अभिनन्दन करनेकी बात आयी। बहुत–से देवता भ्रमर बनकर आ गये। ऋषि–मुनियोंने भ्रमरका रूप धारण किया। उस समय भ्रमरोंने सोचा कि हम सदैव मधुपान करते हुए अतृप्त रहे, पर आज पूरा–पूरा मधुपान करके तृप्त होना है और गुंजारमें मधुरता लाकर मधुमत्त होकर श्रीकृष्णका स्वागत करना है। करोड़ों–करोड़ों, दलके दल भ्रमर पुष्पोंपर मँड़राने लगे, मधुपान करने लगे और मधुर गुंजार करने लगे। इधर जब भ्रमरोंका गुंजन–रव आरम्भ हुआ, गुंजारकी ध्वनि फैली, तब वनदेवीने सोचा कि आज तो सब बाजे बजने चाहिये। इस तरह गाना–बजाना होने लगा, मानो अगणित वीणाएँ बज रही हों। इस प्रकार वनभूमिमें सारी वस्तुएँ मानो बजने लगीं। सारी इन वस्तुओंमें विहंगम प्रधान हैं। ये जितने भी शुक, पिक, सारिका (मैना) आदि पक्षी थे, वे आज चुपचाप नहीं रह सके। बड़ी सुन्दर थी, उनकी बोली—उसे 'काकली' कहते हैं। आज उनके कण्ठमें इतनी मधुरता आ गयी कि वे मस्त हो गये। गान करते हुए इधर–उधर उड़ने लगे। गाने–नाचने लगे, इस डालसे उस डालपर। सारी वनभूमिको उन्होंने सुन्दर नादसे मुखरित कर दिया। सारे वनमें भ्रमरोंके मधुर गुंजार और शुक–पिकादि विहंगोंके कवित्त गुंजनसे एक अतुलनीय मधुर नादका उदय हो गया।

उस समय वन, वनके सरोवर, नदियाँ, पर्वत—ये सारे-के-सारे प्रतिनिनादित—प्रतिध्वनित हो गये। सबमें इन नादवंशीय वन-भूमिके तमाम प्राणियोंका निनाद, मधुर निनाद भर गया। व्रजनन्दनके साथ उनके समवयस्क गोपबालक, कुछ रखवाले और बलदेवजी भी थे। उन्होंने आकर वनकी शोभा देखी। आज भरी हुयी थी शोभा, शोभा तो वनकी थी—वृन्दावनकी। आज वन-भूमिकी शोभा देखनेके लिये स्वयं उसके स्वामी आ रहे हैं। इसलिये अपने स्वामीके सुखके लिये जितने भी शृंगार—सज्जा वनदेवी कर सकती थीं, कर रही थी। सतीका शृंगार स्वामीके लिये होता है। आज श्यामसुन्दर स्वयं वनकी श्री देखनेके लिये आये हुए हैं। यह जानकर वनदेवी श्रीमयी, सुषुमामयी, शोभामयी हो उठी। उस समय भगवान्‌ने अपने मित्र गोपबालकोंसे घिरकर वनमें प्रवेश किया। उसी समय अनन्त—अगणित कुसुम-सुषमासे परिव्याप्त—परिशोभित वनभूमि और भी प्रफुल्लित हो गयी। वहाँ पक्षियोंका, भ्रमरोंका मधुरसे भी मधुर नाद होने लगा।

वेणुनाद

श्यामसुन्दर वनकी एक स्वच्छ सुन्दर शिलापर विराज गये। आसपास सब गोपसखा बैठ गये। दाऊजी दूसरी शिलापर पासमें ही बैठ गये। श्यामसुन्दरने बायीं जाँघपर दाहिनी जाँघ रखकर, ग्रीवाको थोड़ी टेढ़ी करके मौन मुरलीके छिद्रोंको अपने अधरोंपर लगाया, होठोंपर लगाया। मानो नील-कमलकी कलिकाएँ हों, इस प्रकारकी अंगुलियोंके अग्रभागसे उस मुरलीके छिद्रोंको रौंदते हुए, रुद्ध करते हुए वे उनमें फूँक भरने लगे। जिन स्वरोंको प्रकट करने होते हैं उन्हीं स्वरोंको खोलते हैं और शेषको बंद कर लेते हैं। उँगलियाँ खुलने लगीं छिद्रोंपर और जिस छिद्रके द्वारा उन्हें कुछ कहना है, उसमें फुत्कार करने, फूँक भरने लगे। वन-भूमि भ्रमरोंके गुंजारसे, शुकपिकादिके कूजनसे पहले ही मुखरित हो उठी थी। अब व्रजराजनन्दनकी मोहनी मुरली बजने लगी, इससे स्थावर-जंगम सभीको एक कर देनेवाला एक मधुर नाद उदित हो गया। सारी वनभूमि ही नहीं, सारा विश्व परमानन्दके स्रोतमें बहने लगा। उस समय—

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्।।
(१०।२१।३)

श्रीराधा, चन्द्रावली, ललिता आदि भाववती व्रजगोपियाँ जो दूर थीं, घरोंमें थीं, उन्होंने श्रीकृष्णके इस सर्वचित्ताकर्षक, (सबके चित्तको खींचनेवाली) और प्रेमभावके रसको उद्दीप्त करनेवाली मुरली—ध्वनिको सुना। वे अपने भीतरी भावको छिपाती हुई ('**काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य**') अपनी सखियोंसे वर्णन करने लगीं—

तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥

(१० । २१ । ४)

शुकदेवजी कहते हैं कि 'राजन्! ये गोपांगनाएँ मुरलीकी मधुरताका वर्णन करने तो लगीं ('**आरब्धाः**') पर श्रीकृष्णकी रूप-छटा और उनकी वे भंगिमाएँ ('**कृष्णचेष्टितम्**') उनके मनमें आ गयीं, दिखायी देने लगीं, तब '**विक्षिप्तमनसो**' हो गयीं, उनके अंदर एक मिलनकी इच्छा—प्रेमभाव जाग्रत हो गया जिससे वे उसका वर्णन नहीं कर पायीं।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥'ब क

(१० । २१ । —६)

शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! उन्हें भगवान्‌का रूप दीखने लगा। उस समयका दृश्य उनके हृदयमें स्फुरित हो गया। उनकी आँखोंके सामने भगवान्‌का वह स्वरूप प्रकाशित हो गया। उन्होंने देखा कि सिरपर जूड़ा है, उसमें मयूर-पंखका मुकुट बना हुआ है, दोनों कानोंमें कर्णिकारके पुष्प सुशोभित हो रहे हैं। स्वर्णवर्णका 'पीताम्बर'—पीत वस्त्र पहने हुए हैं। गलेमें वैजयन्ती माला है। नटवर विग्रह हैं। वे अपने अधर-सुधासे मुरलीके छिद्रोंको भरते हुए गोपबालकोंके द्वारा नाना प्रकारसे प्रशंसित हो रहे हैं। घूमते हुए अपने पद-चिह्नोंसे परिशोभित उस व्रजमें प्रवेश करते हैं—यह दृश्य उन्हें दीखा। इतनेमें मुरलीकी ध्वनि सुनायी दी। सबने देखा कि पहले तो उनका दृश्य गोपांगनाओंके सामने आया। वनदेवीके द्वारा जो स्वागतकी तैयारी हुई, वह दिखायी दी। भ्रमरोंका गुंजार और शुक-पिकादिकी काकली सुनायी

दी। इसके पश्चात् भगवान्‌का नटवर वपु सामने आ गया। अब भगवान्‌की मनोहर मुरलीकी ध्वनि सुनायी दी। शुकदेवजी बोले—'**इति वेणुरवं ... भिरेमिरे।**' राजन्! इस प्रकार प्राणिमात्रको मुग्ध करनेवाले, प्राणीमात्रके मनको हरण करनेवाले वेणुरवका श्रवण करके वे व्रजवधुएँ—व्रजांगनाएँ उसके माधुर्यका वर्णन करने लगीं और भावावेशमें आपसमें आलिंगन करने लगीं। कहते हैं कि लीलावनकी उस वन-भूमिमें विटप, लता आदि सभी-के-सभी आज शोभासम्पन्न हो गये। उसीमें एकान्त स्थानमें, एक प्रच्छन्न स्थानमें एक शिलाके ऊपर बैठकर समस्त प्रकृतिका आकर्षण करनेवाले सर्वाकर्षक, सच्चिदानन्दरस-घन-विग्रह, जिनके विग्रहमें केवल दिव्य चिन्मय परमानन्द रस-ही-रस है, ऐसे व्रजनन्दन मधुर मुरली बजाने लगे। उस समय मुरली-नादके माधुर्यसे सारा वन, वनके सारे स्थावर, जंगम आदि शुक-पिक अपनेको भूल गये। कहते हैं कि वह वंशीनाद केवल अपनी मधुरताको वनोंमें ही फैलाकर नहीं रह गया, वह मानो उस निर्जन वनमें पवनके हिलोरेके साथ नाचता हुआ वनस्थलीके बाहर भी आ गया और व्रजके घर-घरमें, प्रत्येक घरके प्रत्येक प्राणीके कानोंमें वह निनादित हो उठा। सबके हृदयमें एक भावकी तरंग उत्पन्न हो गयी।

प्रकरण – ४
वेणुनादजनित रस-प्रवाह

यह व्रजभूमि जो है न, यह भावोंकी निवासभूमि है, यहाँ शुष्कता नहीं है। भावोंकी तरंगे उठती रहती हैं। भाव-समुद्र यहाँ छलछला करता है। दो तरहके आनन्द होते हैं—शान्त आनन्द और उच्छलित आनन्द। उच्छलित और शान्तमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है। सागरका अन्तस्तल गम्भीर होता है—प्रशान्त होता है, पर यदि सागर तरंगहीन हो जाय, उसमें ऊपर मधुर-मधुर लहरियाँ न उठें तो निर्जीव है—वह प्रशान्त सागर संशोभित नहीं होता। यह व्रज है, भाव-समुद्रमें लहरियाँ ऐसा स्थान है। व्रजभूमि उच्छलित आनन्दका स्थान है जो स्वयं नाचता है और सबको नचाता है। इस प्रकारका आनन्द इस व्रजभूमिमें है। भाव-सागरकी तरंगें यहाँ निरन्तर उठा करती हैं। यहाँ केवल मानव ही नहीं, व्रजकी नर-नारियोंसे आरम्भ करके पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदितक, यहाँतक कि व्रजकी लता, सरोवर, नद, नदियाँ—ये सब भी भावमय हैं। ये सभी अपने-अपने भावोंके द्वारा

परमानन्दरसघनविग्रह व्रजेन्द्रनन्दनकी अखिलेश माधुर्यराशि हैं, उसका पान कर रहे हैं। सभी लोग, व्रजके सभी प्राणी स्थावर—जंगम व्रजनन्दन श्यामसुन्दरकी माधुर्य—राशिका, माधुर्य—सुधाका अपने—अपने भावोंके अनुसार पान करनेमें रत हैं। जैसे बादल गरजनेपर, समुद्रकी अथाह जलराशि उछलने लगती है और तटभूमिको प्लावित कर देती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णरूपी नये जलधरकी, नये मेघकी मधुर मुरली—ध्वनिने भी व्रजवासियोंके भाव—समुद्रमें तरंगें पैदा कर दीं और उनकी प्रत्येक इन्द्रिय, उनका प्रत्येक अंग सुधाकी बाढ़में बहने लगा।

शान्त—रस

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—सभी रसोंका प्राकट्य है व्रजमें। शान्त—रस भगवत्प्रेमकी भूमिका है। इन्द्रियोंका निग्रह, मनका नियन्त्रण, भोगोंसे उपरति, संसारके प्रपञ्चोंसे चित्तका हट जाना, समस्त दैवी—गुणोंका उदय हो जाना—यह जबतक नहीं होता, तबतक वास्तविक (त्यागमय) रसका—प्रेमका आविर्भाव नहीं होता। शान्तरस ज्ञानकी प्राप्ति होनेपर आता है। इसमें समस्त भोगोंसे स्वयमेव सहज विरक्ति हो जाती है। साधककी आत्मामें स्थिति हो जाती है, वह "स्वस्थ" हो जाता है। ये वस्तुएँ भावरूपसे जहाँ जीवनमें प्रकट हो जाती हैं, उसे शास्त्रमें 'शान्तरस' कहते हैं। व्रजमें शान्तरस स्वाभाविक सेवामें नियुक्त है, उसकी कोई बाह्य क्रिया नहीं है। इन्द्रियोंका दमन, भोग—लालसाका सर्वथा अभाव—व्रजमें सभीका स्वभाव बन गया है। यह रस व्रजमें सर्वत्र व्याप्त है।

दास्य—रस

शान्त—रसके बाद दास्य—रस आता है। भगवान्‌का सेवक दास्य—रतिका उपासक होता है। भगवान्‌के अतिरिक्त साधक न किसी दूसरेका दास रहता है और न वह किसी दूसरेको अपना दास बनाता है—तभी वह भगवान्‌के दासत्वके योग्य होता है। दास्य—रसमें प्रियतमकी—भगवान्‌की सेवासे सना हुआ सेवामय जीवन होता है। व्रजमें सेवामय जीवनका रूप भी स्वाभाविक है। शान्त—रस एवं दास्य—रस स्वभावतः सहज है, अतः व्रजमें इनका बाह्य (विशेष) दर्शन नहीं होता। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—रसोंसे व्रजभूमि परिपूर्ण है—लीलारस है, इनमें भी अधिकांश समर्पित व्रजवासियोंमें तीन भावोंका प्राधान्य है—सख्य, वात्सल्य और मधुर।

विशुद्ध सख्य और विशुद्ध वात्सल्यमें ऐश्वर्यका उदय नहीं होता, फिर भी

सूक्ष्मरूपमें वहाँ ऐश्वर्य छिपा अवश्य रहता है। वहाँ ऐश्वर्यका, ज्ञानका अभाव नहीं रहता, परंतु सख्य, वात्सल्य और मधुर—रसमें इनका प्रत्यक्ष प्राकट्य भी नहीं रहता। इसीसे इन रसोंमें विशुद्धि आती है।

सख्य—रस

श्रीदाम आदि जो गोपबालक हैं, वे सख्य—भावसे श्रीकृष्णको अपना सखा समझकर उनके साथ निःसंकोच सख्यभावका व्यवहार करते हैं। उसी भावसे वे श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन करते हैं। वे श्रीकृष्णको अपनी बराबरीका सखा मानते हैं। इनके सख्य—रसमें किसी प्रकारका सम्मिश्रण नहीं है, न यहाँ किसी प्रकारसे ऐश्वर्यका प्राकट्य है। श्रीनन्दबाबा चाहे व्रजके राजा हों और चाहे सारे व्रजवासी उनकी प्रजा हों, पर नन्दकुमारमें और उनके सखाओंमें परस्परमें कोई छोटा—बड़ा हो, यह कल्पना ही सम्भव नहीं है। व्रजेन्द्र चाहे 'व्रजनन्दन' हों, चाहे 'व्रजकुमार' हों, परंतु गोपबालकोंके लिये वे अपने सखा हैं, राजकुमार नहीं हैं। राजकुमारसे डर होता है, उसकी मर्यादा होती है। भागवतमें वर्णन है—वे आपसमें प्रतिदिन खेलते और खेलमें बाजी लगती कि जो हारे वह घोड़ा बने। भगवान् सर्वजित् हैं, उन्हें कौन जीत सकता है। वे अपने सर्वजित् ऐश्वर्यको लेकर खेलें, तब तो बेचारे सब हारे हुए हैं ही, किसमें बल है जो इन्हें जीत सके। वहाँ ऐश्वर्यका प्रकाश नहीं है कि वे बड़े राजाके लड़के हैं। राजाके लड़केको कोई घोड़ा बना दे, यह सम्भव थोड़े ही है। वह हार भी जायगा, तब भी सखा कह देंगे—नहीं, नहीं, भैया ! तुमने हार मान ली, तुम्हें घोड़ा नहीं बनायेंगे, ऐश्वर्यका भाव है न ! परंतु यहाँ विशुद्ध सख्य—भाव है—जो हारेगा, वह घोड़ा बनेगा। श्रीकृष्ण हार गये। श्रीदामने बिना संकोचके कहा—'अब बनो घोड़ा।' श्रीकृष्ण घोड़ा बन गये और चढ़ा लिया श्रीदामको अपने कंधेपर। श्रीदाम उन्हें घोड़ा बनाकर भाण्डीरवनतक ले गये। यह है—विशुद्ध सख्य—भाव।

इस प्रकार श्रीकृष्णमें नये—नये खेल खेलनेकी इच्छा जाग्रत् होती है। बालकोंके द्वारा सख्य—भावका रसास्वादन करनेके लिये उनमें भावोद्दीपन होना स्वाभाविक है। सख्यभावमें बराबरीका दावा है। सखागण उन्हें बड़ा, पूज्य या स्वामी समझकर नहीं, परंतु श्रीकृष्ण हमारा प्यारा दोस्त है, सखा है, कहीं वह थक गया होगा, यह सोचकर वे बालक उनके पैर दबाने लगते। वे देखते कि इसे थकावट—सी मालूम होती है, शान्त हो गया है तो वे कहते—'कन्हैया ! सो जा, हमारी जाँघपर सिर रख ले और हम

हवा करेंगे।' जाँघपर सुला लेते, दूसरा बालक एक बड़ा-सा पत्ता लेकर पंखा झलता। सख्य-भावमें सेवासे रस-विकास नहीं होता, रस-विकास तो कहीं डाँट पड़े तब हो। यह लीला भी योगमाया बना लेती है।

एक दिन श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वनमें गायें चराने गये। वहाँ वे ऊँघने लगे। सखाओंने पूछा—'कन्हैया! नींद आ रही है।' बोले—'भैया! नींद तो आती है।' 'रातमें क्या जग रहा था?' 'तुम लोगोंकी याद आ गयी, खेलकी याद आ गयी और नींद आयी नहीं।' सखा बोले—'अच्छा सो जा, सो जा।' श्रीकृष्ण बोले—'मैं सो जाऊँगा तो गायोंकी सँभाल कौन रखेगा?' सखा बोले—'हम तो हैं ही, सारी गायोंकी सँभाल रखेंगे। तू सो जा।' वे बोले—'कोई जगायेगा तो, बीचमें यहाँ हल्ला-गुल्ला होता है।' सखा बोले—'एकान्तमें सो जा।' एकान्त वहाँ कहाँ? सारे ब्रजप्रदेशमें ब्रज-बालक फैले हुए हैं, गायें फैली हुई हैं। श्रीकृष्ण बोले—'भैया! और तो एकान्त दीखता नहीं, यह जो कदम्बका पेड़ है, इसकी डाली कितनी मोटी है, मानो बिछौना हो, कालीन बिछी हो, तुम कहो तो उसपर जाकर सो जाऊँ।' 'सो जाओ, देखो, सोये मत रहना। जब नींद पूरी हो जाय तब उठकर आ जाना नीचे, 'हाँ'! बोले—'ठीक।

श्रीकृष्ण उसपर जाकर सो गये, उनका सोना तो उनका अपना ही रूप है। भगवान्‌के सभी विग्रह भगवद्‌रूप हैं। जब चाहें सोयें, जब चाहें जग जायँ, वे नींदके वशमें थोड़े ही हैं। नींद उनपर कोई धावा थोड़े ही करती है। इन बालकोंने श्रीकृष्णको सुला तो दिया, पर उन्हें उनका देरतक सोना सह्य भी तो नहीं। वे बोले—'बहुत देर हो गयी, उठा नहीं। अब उसके बिना किसके साथ खेलें, आनन्द कैसे हो, मनोरंजन कैसे हो। बच्चे थोड़ी देरमें व्याकुल हो गये। वे बोले—'उठता नहीं, उठता नहीं।' कोई बाँसुरी बजाता, कोई कुछ और बजाता। कोई मुँहसे आवाज करने लगता, कोई पेड़की डाली हिलाने लगता। जागता क्या जागे? सोया हुआ हो तो जग जाय, श्यामसुन्दर जगे नहीं। अब सख्यभावका प्राकट्य हुआ, रसास्वादनका भाव आया। सब बालक खीझ गये। वियोग सहन नहीं होता, कामना पूरी नहीं हुई, क्रोध आ गया। बोले—'आप तो बन बैठा है, राजाका बेटा और हम इसके नौकर बनें, इसकी गायोंको सँभालें और यह सोया रहे। ऐसा नहीं होगा। अच्छा, डाँटो, और डाँटने लगे। सूरदासका एक पद है—

न्यारी करो हरि आपनि गैया।

ना हम चाकर नन्दबबाके, ना तुम हमरे नाथ गुसैया।।

'क्या हम तेरे बापके नौकर हैं ? क्या तू हमारा मालिक है? न हम तुम्हारे बापके नौकर हैं, न तू हमारा मालिक है, उतर नीचे, हटा अपनी गायोंको अलग। हम तुम्हारी गायें नहीं सँभालते। आप नींदमें मतवाला हो सो जाय, उतर नीचे।' उतरकर हाथ जोड़ लिये श्यामसुन्दरने। कहा—भैया! नींद जरा जोरसे आयी हुई थी, क्या करूँ ?' क्षमा माँगकर हाथ जोड़ लिये, बोले—'नींद आ रही थी।' दुःखी होने लगे। यह विशुद्ध सख्यभाव है। यहाँ अज्ञानता नहीं है। ज्ञानका फल है शान्ति, शान्त—रसका अभाव नहीं है। शान्त—रस वहाँपर स्वभाव बनकर छिपा हुआ है।

वात्सल्य—रस

विशुद्ध वात्सल्य और ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्य—इस प्रकार वात्सल्यके दो भेद हैं। भगवान् प्रकट होते हैं कंसके कारागारमें। वे प्रकट होते हैं ऐश्वर्यमय स्वरूपसे, चतुर्भुज हैं—शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। किरीट—मुकुट है, रत्नोंके हार हैं ऐश्वर्यमय स्वरूप है। उसे देखकर वसुदेव—देवकी स्तवन करते हैं, विनती करते हैं। भगवान् याद दिलाते हैं पूर्वजन्मकी बातें कि तुमने इस प्रकारसे वरदान माँगा था और उसी वरदानकी सफलताके लिये मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ। जब यह बात याद आती है, तब उन्हें पुत्रकी स्मृति होती है, वात्सल्य जगता है। वे कहते हैं—'महाराज ! कंस आ गया तो ? आप यह रूप छिपा लो अपना।' भगवान् छोटे—से, नन्हें—से बच्चे बन जाते हैं, रोने लगते हैं। माँ कहती है—'धीरे—धीरे रोना,' तब रोना बंद कर देते हैं। भगवान् कहते हैं—'हमें नन्दालयमें पहुँचा दो।' वसुदेवजी इन्हें नन्दालयमें ले जाते हैं। उस समय भी ऐश्वर्यकी लीला होती है। अर्धरात्रि है, दरवाजे बंद हैं, दरवाजे अपने—आप खुल जाते हैं। वसुदेवजीके हाथकी हथकड़ी और पाँवकी बेड़ी खुल जाती है, सारे द्वारपाल सो जाते हैं। सारी मथुरा नगरी निस्तब्ध हो जाती है। यमुनाका जो प्रबल उच्छ्वास है, वह भगवान्‌के चरणोंको छूकर शान्त हो जाता है। यमुना मार्ग दे देती है। वसुदेवजी भगवान्‌को वहाँ पहुँचाकर लौट आते हैं, तबतक यहींपर ज्यों—का—त्यों रहता है। अंदर आते हैं, तब हथकड़ी—बेड़ी फिर पड़ जाती है। द्वार बंद हो जाते हैं, द्वारपाल सजग हो जाते हैं। तब वह कन्या रोती है। यहाँ ऐश्वर्यकी क्रिया है और माधुर्य साथ है।

नन्दालयमें यशोदा मैया और नन्दबाबाके सामने सर्वथा और सर्वदा

माधुर्य आकर ऐश्वर्यको तत्काल दबा देता है। नन्द–यशोदा आदि जो गोप–गोपी–वृद्ध महिलाएँ आदि हैं तथा उनकी समवयस्का वात्सल्यमयी वृद्धा गोपिकाएँ हैं, वे भी वात्सल्यभावसे आराधना करती हैं, ठीक बेटा समझकर, भगवान् समझकर नहीं। अन्यथा उनपर लकडी कौन उठावे, रस्सी हाथमें बाँधें कैसे? वे ठीक पुत्र–ज्ञानसे इनका लालन–पालन करती हैं और बदलेमें भगवान् भी अपनी बालमाधुरीसे इनका मन मोहते हैं। भागवतमें वर्णन आया है कि जैसे काठकी पुतली नचाये नाचती है, इसी प्रकार शिशु श्रीकृष्ण माताके नचाये नाचते हैं। माता बोली—'जा बेटा ! उस पीढ़ेको उठा ला', बोले—'नहीं उठता, मैया पीढ़ा।' बोली—'पीढ़ा नहीं उठता तो जो बाबाकी पावरी पड़ी है उसीको उठा ला।' जिनके संकल्पमें अनन्त विश्व विधृत है, स्थिर है, वे भगवान् उठा नहीं सकते पावरी। बड़ी–बूढ़ी गोपांगनाएँ जोरसे कहती हैं 'देख, ले यह लोंदा हाथमें, तू बड़ा बहादुर है, उठा ही लेगा, उठाके ले आ, यह माखन मिलेगा।' माखनका लोभ जाग्रत् होता है। जोर लगाकर उठाते हैं। जब समीप आते हैं, बीचमें देहरी आती है। देहरी लाँघें कैसे? अटक जाते हैं। माताएँ विशुद्ध वात्सल्यभावसे उनका लालन–पालन करती हैं और श्रीभगवान् वहाँपर अपनी भगवत्ताको किनारे रख देते हैं। भगवत्ता जाग भी उठती है तो उसे दबा देते हैं। जब मुँहमें मिट्टी खानेकी बात हुयी तो ये बोले—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्।।
(भागवत १०। ८। ३)

'मैया ! मैंने मिट्टी नहीं खायी, ये सारे झूठे हैं।' मिट्टी तो मुँहमें है ही, खाते क्या ? सारे विश्वको धर रखा है अपने अंदर। बोले—'मैया ! विश्वास न हो तो मुँह देख ले।' 'खोल मुँह'—तो मुँह खोल दिया। मुँहके अंदर समस्त विश्व दिखायी दिया। उस विश्वके अंदर व्रजभूमि भी है। व्रजभूमिमें यह नन्द–महल भी, नन्दमहलमें यह मैया भी और श्यामसुन्दर भी, और वह डरा रही है। मैया देखकर चकित हो गयी। अब मैयामें थोड़ा–सा ऐश्वर्य जागा। भगवान्‌ने देखा मैया हाथ जोड़ रही है। मैयाका वात्सल्यभाव आया। बोली—'यह जो पूतना–सूतना राक्षसी है, उसने या किसी राक्षसने माया करके हमारे छोटे–से–नन्हेंसे लाड़ले बेटेके मुँहमें माया फेर दी है।' यह मैयाके मनमें नहीं आया कि यह भगवान् है। बोली—'जाओ

बुलाओ ब्राह्मणोंको, स्वस्तिवाचन करें। गायको लाकर इनपर पूँछ फिरायेंगे। सरसों लाओ, अभिमन्त्रण करके छोड़ेंगे। काजल ले आओ, उसका टीका लगायेंगे। इसको नजर न लग जाय।' यह सब मैया करने लगी।

विशुद्ध वात्सल्यका व्रजमें प्रादुर्भाव है। भगवान् अपनी भगवत्ताके द्वारा अपने माता-पिताको सुख देते हैं, वह ऐश्वर्यकी भूमिमें कहीं और होता होगा, यहाँ तो बिल्कुल शिशु बनकर, सर्वथा अज्ञानी बालक बनकर, पराधीन बनकर, ईश्वर रहते हुए भी उनके अधीन हो जाते हैं। मैया खिलाये तो खायें, नहीं तो पड़े रोते हैं। इस प्रकार विशुद्ध वात्सल्यका ही दर्शन व्रजभूमिमें होता है। कहीं दूध अधिक न पी ले, इस आशंकासे स्तनपान करते हुए सुकुमार शिशु श्यामसुन्दरको मैया अपनी गोदसे नीचे उतार देती है। वह उनके रोनेकी परवाह नहीं करती। कहीं दूध अधिक पी जायगा तो हजम नहीं होगा, वह बीमार पड़ जायगा—वह इस आशंकाको प्रधानता देती हैं। कभी कहीं ऊधम करने लगते हैं तो मैया जाकर रोक लेती हैं, पकड़कर ले आती हैं। खाता-पीता नहीं, तो डराकर गोदीमें लेकर जबरदस्ती खिलाती हैं। दामोदर-लीलाके दिन तो काम, क्रोध, लोभ, भय, पलायन, बन्धन—इन छः विकारोंकी लीला भगवान्‌ने की। इतना स्तन्य-काम हुआ कि ये मैयाका दूध पीते-पीते अघाये नहीं। चूल्हेका दूध उफन रहा था, उसे बचानेके बहाने मैयाने इन्हें जबरदस्ती गोदसे नीचे उतार दिया। इन्हें क्रोध हो गया तो मटके फोड़ डाले। लोभ हुआ तो ये नवनीत-भण्डारमें जाकर मक्खन खाने लगे, बन्दरोंको बाँटने लगे, ऊधम करने लगे। मैया जब लौटकर हाथमें छड़ी लेकर आयी तो उसे देखकर भागे। मैयाने पकड़ लिया तो रोने लगे। फिर मैयाने बाँध दिया।

भागवतमें आता है कि जिसके न बाहर है, न भीतर है—उसका बन्धन कैसा ! तब बाँधनेके लिये अवकाश चाहिये। उस असीमकी सीमा कहाँ ? असीमका सीमित होना बड़ा विलक्षण है—चमत्कारपूर्ण है। असीमका सीमित होना यह गीतामें आया है। सब जगह अजन्माका जन्म, अविनाशीका तिरोधान, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रकी परतन्त्रता, सर्वेश्वरका सेवक बनना—यही स्वारस्य है अवतारमें। आज नन्दालयमें विलक्षण वात्सल्य-रस प्रकट हुआ है। एक तो श्यामसुन्दर बड़े सुन्दर हैं ही, फिर आँखोंमें लगा काजल रोनेसे बहने लगा। उनके कपोल श्याम, नीलाभ-अरुण आभायुक्त हैं और उनपर कुण्डलोंकी उज्ज्वलता झलमल-झलमल कर रही है। श्याम, कृष्ण,

नीलाभ–अरुणिमा आभायुक्त है। मानो नवनीलनिर्मित कान्ति हो। ये भाव विशेष कोमल होते हैं—इनमें अरुणिमा रहती है, कुछ ललाई रहती है, उनका नीलकृष्ण रंग है, स्वाभाविक उनके अंदरसे निरन्तर तेज निकलता रहता है। उसकी आभा है। कृष्ण–नीलाभ उनका वर्ण है। स्ववर्ण कृष्ण–नीलाभ वर्णपर अरुणिमा–ललाई झलक रही है और उस ललाईपर दिव्य कुण्डलोंके रत्नोंकी आभा है। इन रत्नोंकी जो उज्ज्वलता रहती है, उसका प्रकाश पड़ रहा है। अब वे कैसे गाल हैं ? ऐसे दिव्य आभायुक्त गालोंपर काजल बहता हुआ आया। दाहिना हाथ मैयाने पकड़ रखा है। श्रीकृष्ण डर रहे हैं, कहीं छड़ी मार न दे मैया और बाँयें हाथसे आँसू पोंछ रहे हैं—यह ध्यान करनेकी वस्तु है, वात्सल्यका ध्यान है। यह विशुद्ध वात्सल्य है। अन्तमें मैयाने बाँध दिया उन्हें—इस आशंकासे कि बड़ा नटखट है। इसको डाँटा है न। कहीं क्रोधके मारे भाग गया तो ? मैं तो अब घरके काममें लगूँगी, यह कहीं भाग जायगा जंगलमें तो फिर क्या होगा ? मैयाका वात्सल्य है। अनिष्ट न हो किसी तरहसे, फिर यह उछल न जाय ? कहीं साँप न पकड़ ले ? इसका क्या ठिकाना ? इसलिये मैयाने बाँध दिया। श्रीदाम, सुदाम आदि जो गोपबालक हैं, वे इस सख्य–रसके द्वारा भगवान्‌का सेवन करते और सख्य–रसका माधुर्य ही भगवान् इन्हें पिलाते। केवल यहींतक नहीं रहता यह रस। माताओंमें जब यह व्रजरस प्रकट होता है, तब उनके स्तनोंसे दुग्धकी धारा बह निकलती है। सखाओंमें प्रकट होता है तो वे खेलके लिये आतुर हो जाते हैं। यहाँतक कि व्रजभूमिमें जितने जड़ थे, पशु–पक्षी आदि मानवेतर जितने प्राणी थे, उन सभीको इस रसने जाकर अपना स्पर्श–सुख दिया और उन्हें प्रफुल्लित किया। वे भी भावरहित नहीं रहे, वृक्ष, लता, नदी–नद, सरोवर—इन सबमें भी इस रसका उदय हुआ।

मधुर–रस

शरत्कालीन वन–विहारकी लालसासे वृन्दावनकी अतुलनीय शोभासे सम्पन्न बड़े सुन्दर मधुर मनोहर वनमें प्रवेश करके व्रजराजनन्दनने वंशी फूँकना आरम्भ किया। जहाँ–जहाँपर यह ध्वनि पहुँची, सभीको अभूतपूर्व परम आनन्दकी उपलब्धि हुई। व्रजांगनाओंके चित्तमें एक नवीन भावका उद्दीपन हुआ। सारे उद्दीपनभाव वहाँ स्वभावतः उपस्थित थे—शरत्कालीन प्रकृतिकी शोभा, व्रजराजनन्दनके पौगण्डके अंदरसे झाँकता हुआ नवकैशोर आदि। सूर्यके उदयसे पहले मधुर अरुणिमा होती है न, लाल–लाल प्रकाश

होता है। जरा—जरा—सा उसी प्रकार उस समय व्रजवधुओंके नेत्रोंमें कैशोरका प्रकाश होने लगा। वंशी—निनाद जब श्रीगोपांगनाओंके कानोंमें गया तो उनके चित्तमें एक अभूतपूर्व मिलनकी इच्छा प्रकट हो गयी। वहाँपर दो तरहकी गोपांगनाएँ थीं—एक समवयस्का और दूसरी न्यून अवस्थावाली—छोटी उम्रकी। श्रीराधिकाजी, चन्द्रावलीजी—ये प्रायः समवयस्का ही हैं, इनकी वयमें कुछ दिनोंका ही अन्तर है और बाल्यकालसे ही श्यामसुन्दरके प्रति इनमें प्रगाढ़ प्रेम है।

बाल्यकालसे ही ये नित्यसिद्धा श्रीगोपांगनाएँ—विछोह—विच्छेद सहन नहीं कर सकतीं। यद्यपि भगवान्‌की नित्य प्रेयसी होनेके कारण बाल्यकालमें उनमें प्रेमभावका अस्तित्व तो था ही, पर शैशव—अवस्थामें वह प्रकट नहीं था। शैशव—अवस्थामें स्त्री—पुरुषका भेद नहीं था। धीरे—धीरे वह भेद जाग्रत् होने लगा। जो बाल—सुलभ निःसंकोच व्यवहार था, उसमें जरा—जरा—सा संकोच स्वाभाविक होने लगा; परंतु इससे उन व्रजांगनाओंके मनमें जो कृष्णानुराग था, भगवान्‌में जो अनुरक्ति थी, वह न मिटी, न कम हुई। मिलनेच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वंशीनादसे वह मिलनेच्छा बहुत बढ़ गयी और बढ़ती—बढ़ती चरम सीमापर जा पहुँची। अपने—आप दैन्य, लज्जा, कुलशील, भय आदि सबका परित्याग हो गया। इस लीलामें सर्वनियन्ता—सर्वेश्वर, सर्वलोक—महेश्वर, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् नायक हैं।

भगवान्‌की स्वरूपा—शक्ति श्रीराधाजी स्वरूपतः तत्त्वतः श्रीकृष्ण ही हैं तथा उनकी कायव्यूहरूपा महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ नायिका हैं। इनमें परस्परका सम्बन्ध समझनेका विषय है। ये सब भगवान्‌के साथ जुड़नेवाली होती हैं, तभी सार्थकता है। नहीं तो गिरानेवाली हो जाती हैं। बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है—'उज्ज्वल नीलमणि', यह संस्कृतमें है। उसमें श्रीरूपगोस्वामीने रसके नामपर इन सारी वस्तुओंका बड़ा सुन्दर, बड़ा शास्त्रसम्मत पक्ष दिया है। मिलनके पूर्व परस्परमें एक प्रगाढ़ आसक्ति होती है। मिलनके लिये तीव्र उत्कण्ठा होती है, उसे कहा है—रस—शास्त्रोंमें 'पूर्वराग'। पूर्वराग क्या है ? पूर्वराग है परस्परमें मिलनेके पूर्व एक दूसरेमें प्रगाढ़ प्रेम, बहुत गहरी प्रीति, चित्तकी आत्यन्तिक अनन्य अनुरक्ति, परम आसक्ति, पुरानुरक्ति और मिलनकी तीव्रतम उत्कण्ठा—मन्द नहीं, मध्य नहीं, तीव्र नहीं, तीव्रतर नहीं; तीव्रतम उत्कण्ठा—जहाँ जाग्रत् होती है, जिस स्थितिमें, उसको कहते हैं—पूर्वराग। पूर्वरागके कई भेद हैं—साक्षात् दर्शन, स्वप्न—दर्शन, वंशी—नाद, बंदीजनद्वारा

गुण—श्रवण, नाम—श्रवण, चित्र—दर्शन, दूरसे वाणी—श्रवण, दूतीके द्वारा रूप—गुण—श्रवण, सखीसे गुण—श्रवण, लीलास्थली—दर्शन—ये दस हैं। कई महानुभावोंने आठ माना है, पर ये दसतक जाते हैं।

इस प्रकार इस भावमें, इस अनुरक्तिमें क्या होता है—मिलनकी उत्कण्ठा, जो दोनोंको अत्यन्त व्याकुल कर देती है। तब ये उद्दीपन और अधिक बढ़ते हैं। अनिर्वचनीय तीव्र व्यग्रताका उदय होता है। चित्त और बुद्धि दो वस्तु होती हैं। पर वह चित्त और बुद्धिकी सीमासे परे होती है जहाँ भगवान्‌का संयोग हो जाता है। हमलोगोंके चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन आदि जो हैं, उनमें और भगवान्‌के चित्त, बुद्धि, अहंकार, मनमें बड़ा अन्तर है। हमलोगोंके चित्त, बुद्धि, मन, अहंकार प्रकृतिजनित हैं। भगवान्‌का सब कुछ भगवत्स्वरूप है। भगवान्‌के मनमें, भगवान्‌के चित्तमें, भगवान्‌की बुद्धिमें, जिस भावका उदय होता है, उस भावकी कल्पना हमलोग कर ही नहीं सकते, भगवान् ही करते हैं या उस भावमें जो डूबे हुए उनके प्रेमीजन, गोपांगनाएँ, चैतन्य महाप्रभु आदि ऐसे लोग, उसकी कुछ—कुछ उपलब्धि करते हैं। पूर्वरागका लम्बा विषय है। रास—पञ्चाध्यायीमें इसका संकेत अच्छी तरहसे है। जो सांसारिक प्राकृतिक नायक—नायिका होते हैं, इनमें पूर्वराग विशेषतः नायकमें ही उत्पन्न होता है; किंतु यहाँ अप्राकृतिक नायक—नायिकाका प्रसंग है। श्रीकृष्ण और गोपांगनाओंका प्रेम है, यह प्रकट नहीं अप्रकट है। भगवान् और भगवान्‌की स्वरूपा—शक्तिकी लीला है। उस लीलामें केवल भगवत्ता—ही—भगवत्ता है, भगवत्—रस—ही—रस है। यद्यपि इनके नाम लौकिक हैं—जैसे मिश्रीकी कड़वी तूँबीकी मूर्ति बना दी जाय, मिश्रीको नीमके पत्तोंका रूप दे दिया जाय, उसे अफीमका रूप दे दिया जाय एवं रूपसे मालूम हो कि यह नीमका पत्ता है, अफीम है, तूँबी है, कड़वा तूँबा है, पर जब उसे चखने लगेंगे तब मालूम होगा कि वह कड़वा नहीं, वह महान् मधुर मिश्री है और न चखनेपर भी जाननेवालोंकी दृष्टिमें वह मिश्री है, तूँबा नहीं, उसमें कड़वापन नहीं है।

इसी प्रकार भगवान्‌की अप्राकृतिक रस—लीलामें जो कुछ है, सब—का—सब भगवत्—रसमय है, परंतु हमलोग अपनी प्राकृतिक आँखोंसे, प्राकृत बुद्धिसे, प्राकृत मनसे, प्राकृत इन्द्रियोंसे उस वस्तुको ठीक—ठीक उपलब्ध न करके मोहित हो जाते हैं और उसे एक कामका नीचा, गन्दा रूप दे देते हैं। अतः पहले इस बातको सोच—विचारकर फिर इसमें आगे बढ़ना चाहिये। संसारमें जो प्राकृत नायक—नायिका होते हैं, इनमें प्रायः

नायकमें पहले व्यग्रता होती है, परंतु इस अप्राकृत नायक–नायिकामें जहाँ श्रीकृष्ण और गोपियाँ हैं, वहाँ प्रथम पूर्वरागका प्रसंग उदय होता है, गोपिकाओंमें—यह भेद है। श्रीराधा–गोविन्दकी इस मिलन–लीलामें इस रसके जो विज्ञ लोग हैं, उन्होंने पहले श्रीराधिकामें पूर्वरागका वर्णन किया है। उसका कारण यही है कि गोपियोंके साथ श्रीगोपीनाथका मिलन हो। यह नायक–नायिकाकी भाव–प्रीतिसे परिपूर्ण होनेपर भी असलमें प्राकृत नायक–नायिकाकी काम–क्रीडा नहीं है। परस्परमें एक–दूसरेमें पूर्णरूपसे मिलनकी वासना होनेपर भी प्राकृत कामकी रमण–इच्छा नहीं है। उनमें नाना प्रकारके हाव, भाव, भंगिमा, विलास, विहारादि होनेपर भी प्राकृतिक विकार नहीं है। गोपियोंके साथ गोपीनाथकी जो लीला है, यह अत्यन्त दिव्य, परम त्यागमय, भुक्ति–मुक्ति–स्पृहासे रहित, प्रेम–मन्दाकिनीकी अत्यन्त मधुरतम धारा है। इस रस–सुधा–धारामें सच्चिदानन्दघनविग्रह श्रीभगवान् और दिव्य प्रेमघन–विग्रह श्रीगोपांगनाएँ अनादिकालसे ही सुखपूर्वक तैरती हैं। उनका सुख–संतरण अनादिकालीन है, कभी पैदा हुआ हो—ऐसा नहीं, परंतु बीच–बीचमें लीलारस–सिन्धुकी कोई बूँद इस मृत्युलोकमें प्रकाशित होकर उसका एक चित्र अंकित कर देती है। जगत्के लोगोंको एक पवित्र प्रेम, प्रेमजनित पवित्र त्याग, शान्ति, सुखका कुछ अनुभव करा देती है—यही इस लीलाकी विशेषता है।

गोपियोंके साथ गोपीनाथकी जो लीला है—इसमें नायक–नायिकाकी काम–क्रीडा आदि ऐसी कुछ बातें लगनेपर भी यह प्रेमीके साथ, भक्तके साथ प्रेमास्पदका—भगवान्का मधुरतम मिलन है। इसमें न भोगवासना है न आत्मेन्द्रियसुख—न अपने इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेकी कल्पना है, न इसमें अतिरिक्त वासनाका कोई चित्तपर आघात है। यहाँ है केवल और केवल भक्तका पूर्ण प्रेम और भगवान्का, प्रेमास्पद भगवान्का प्रेमपरिपूर्ण अनुग्रह। गोपियोंकी इस प्रेम–सेवाकांक्षामें, सुखवाञ्छा नहीं, संसारमें जितनी भी ऐसी वस्तुएँ होती हैं, उनके सामने स्वसुख–वासना, आत्मेन्द्रिय–प्रीतिकी प्राप्ति—यह उद्देश्य होता है, परंतु यहाँ गोपियोंकी इस लीलामें केवल प्रेमसेवाकांक्षा ही कारण है। गोपियोंकी महात्यागवृत्ति, स्वसुखवाञ्छा–हीनता एवं उनकी प्रेम–सेवा–आकांक्षाने ही उनको साक्षात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी नायिका सुसज्जित करनेका सौभाग्य दिया है। भगवान्का अनुग्रह, उनका

प्रेमस्वरूप होना, उनका प्रेम-रसास्वादनके लिये अपने स्वरूपका वितरण करना—इस प्रेमानुग्रहने ही भगवान्‌को नायक बनाया है।

वंशी-निनादका हेतु

आज इस वेणुनादके दिन प्रेमी और प्रेमास्पद, भक्त और भगवान्, प्रेम और प्रेमानुग्रहकी अदम्य प्रेरणासे पूर्वरागका पवित्र उदय करनेके लिये भगवान्‌का वंशी-निनाद होता है। भक्त और भगवान्‌में, पहले भक्तके प्रेममें तीव्र सेवाकी आकांक्षा उत्पन्न हुआ करती है। भगवान् तो अनुग्रह करनेके लिये नित्य प्रस्तुत हैं ही, अनुग्रह-स्वरूप हैं ही, भगवान्‌के उस प्रेमको प्राप्त करनेकी लालसा, उस प्रेमका रस प्राप्त करनेकी कामना—पहले भक्तके हृदयमें जाग्रत् होती है। भगवत्कृपा उसमें भी वर्तमान है, उसमें भी ममवत्-प्रेमियोंका संग कारण है, परंतु भगवान्‌की ओरसे पहल नहीं होती, प्रेमी भक्तके मनमें जब तीव्र सेवा-आकांक्षाका उदय होता है, तब सच्चिदानन्दविग्रह भगवान्‌में, जो निरीह हैं, निरपेक्ष हैं, इच्छारहित हैं, इच्छा पैदा होती है। उनमें फिर इसी प्रकारके आकांक्षायुक्त मनका निर्माण होता है—यह रासपञ्चाध्यायीमें आता है—

'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

भगवान्‌ने 'रन्तुम्' रमणकी इच्छासे मनका निर्माण किया। इच्छा क्यों उत्पन्न हुई? श्रीगोपांगनाओंकी इच्छाने उनके मनको इच्छामय बना दिया। सच्चिदानन्दघनविग्रह भगवान्‌में प्रेमानुग्रहका विकास होता है, उसका कारण होता है—भक्तोंकी, प्रेमियोंकी, गोपांगनाओंकी तीव्र सेवाकांक्षा, मिलनेच्छा। जब ये दोनों हो जाते हैं—उनकी सेवाकांक्षा अदम्य हो गयी और सेवाकांक्षामें सेवारसका आस्वादन करनेकी कृपा जब भगवान्‌में जाग आयी—दोनों वस्तुएँ जहाँ हुईं, तब भक्त-भगवान्‌का मधुर मिलन, प्रेमी और प्रेमास्पदका मधुर संयोग हो जाता है। श्रीराधिका आदि, चन्द्रावली आदि भगवान्‌का स्वरूप होते हुए भी यहाँ लीलामें ये प्रेमियोंकी शिरोमणि हैं। नारदजी इसीलिये प्रेमका वर्णन करते हुए भक्तिका रूप बताते हैं—

'यथा व्रजगोपिकानाम्'।

(नारद-भक्ति-सूत्र २१)

सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण, सर्वत्याग करके लोक—परलोक, भुक्ति—मुक्ति, सबके संकल्पका, सबकी कल्पनाका सर्वथा त्याग करके केवल भगवान्‌के, प्रियतमके, प्रेमास्पदके मधुर स्मरणमें ही वे अपने जीवनको रँग देती हैं। उनका जीवन स्वगावगत स्मरणमय हो जाता है, क्षणभरके लिये भी उनकी विस्मृति सहन नहीं होती। **'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'** का वहाँ उदाहरण देते हैं—यह हुआ कहाँ ? नारदजी कहते हैं—**'यथा व्रजगोपिकानाम्'**—जैसे व्रजकी गोपांगनाओंमें हुआ। श्रीराधिका आदि जो श्रीकृष्णकी अनुरागिणी हैं, ऐसी प्रेमी सर्वशिरोमणि हैं और ये मधुर रसके द्वारा जब भगवान्‌की सेवा करनेके लिये—प्रियतम भगवान्‌की सेवा करनेके लिये जब पूर्णरूपसे समुत्कण्ठित हो जाती हैं, इनकी सेवाकांक्षा तीव्र होकर इनके चित्तको उद्वेलित कर देती है, उस समय भगवान्‌का चित्त भी उद्वेलित हो जाता है, भगवान् भी मिलनेके लिये आतुर हो जाते हैं, तब इनका शुभ प्रेमका मधुर मिलन होता है। यहाँ ये परमहंसशिरोमणि शुकदेवजी मामूली वक्ता नहीं हैं, व्याख्यानदाता नहीं हैं, ये परमहंसशिरोमणि हैं।

ऐसे जो शुकदेवजी वंशी—निनादसे कृष्णानुरागिणी महाभागिनी व्रजविलासिनी व्रजांगनाओंके चित्तमें किस प्रकारकी मिलनकी तीव्रतम उत्कण्ठा जाग्रत् हुई, इसका वर्णन कर गोपियोंके पूर्वरागका संकेत करते हैं। आनन्दघन—विग्रह प्रेमघनविग्रह, रसराजशिरोमणि व्रजेन्द्रनन्दन जब शरत्कालीन वनशोभाको देखनेके लिये वनभ्रमणमें प्रवृत्त हुए, जब इन्होंने वंशीनिनाद किया, तब व्रजविलासिनी गोपांगनाएँ अपने घरोंमें बैठी उसे सुन पायीं। यह नहीं कहा जा सकता कि वंशी—निनाद उन सबके कानोंमें समान रूपसे पहुँचा, परंतु उन्होंने ज्यों ही सुना, त्यों ही वे विवश हो गयीं, उनके सुगुप्त अत्यन्त रहस्यमय हृदय—प्रांगणमें प्रेम—रसका आविर्भाव हो गया; उनके अंग—प्रत्यंगमें प्रेमका उदय हो आया और वे अपने भावको संवरण करनेमें असमर्थ हो गयीं। तब वे उस भारको हल्का करनेके लिये अन्दरके भावरूपी भारको हल्का करनेके लिये, भावलाघवके लिये अपनी—अपनी अत्यन्त अन्तरंग सखियोंसे उनके सामने कुछ—कुछ कहने—बोलने लगीं। असलमें जो वंशी—रव है न, यह वंशीध्वनि अनुरागका नित्य सहचर है, प्रेममें नित्य साथ रहता है, अनुराग जगाता है। जिसके हृदयमें श्रीकृष्णका अनुराग है, वंशीरव जब कानोंके द्वारा उसके हृदयमें प्रविष्ट होता है, तब वह सुप्त, गुप्त और छिपे हुए अनुरागको जगा देता है।

अनुराग तो श्रीगोपांगनाओंमें था ही, इस वंशीध्वनिसे वह अनुराग उद्बुद्ध और प्रकाशित हो गया। अनुराग केवल अंदर ही नहीं जगा, अपनी-अपनी अन्तरंग सखियोंके सामने वह बाहर भी निकल पड़ा। वे व्रजरमणियाँ आज वंशी-रवको सुनकर व्याकुल हो उठीं।

वंशी-रवमें एक वस्तु है, यहाँ उसका नाम लिया है—स्मर। स्मरका लौकिक अर्थ होता है—काम। यहाँ काम क्या है—कृष्ण-सुख-विषयक काम। हमारे काममें और गोपांगनाओंके काम-नामक प्रेममें यही अन्तर है। इसलिये शास्त्रज्ञोंने कहा है, **प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्**—गोपियोंके विशुद्ध प्रेमका नाम यहाँपर काम है। इसमें अन्तर क्या है? यहाँ केवल प्रियतमके सुखकी चाह है। स्वसुखवाञ्छाकी कल्पना ही नहीं है। प्रेम और काममें यही अन्तर है। आपके द्वारा मैं कुछ होना चाहूँ—इसका नाम काम है। वह चाहे किसी मित्रके द्वारा हो, भगवान्‌के द्वारा हो, किसी सम्बन्धीके द्वारा हो, किसी वस्तुके द्वारा हो, परिस्थितिके द्वारा हो। यह भौतिक जगत्‌में तो होता ही है, पर आध्यात्मिक जगत्‌में भी स्वसुखकामना होती है।

मुमुक्षुके हृदयमें जो ज्ञानका ऊँचा-से-ऊँचा साधक है, जिसने षट्सम्पत्ति प्राप्त कर ली है, उसमें भी स्वसुख-कामनाका एक बड़ा ऊँचा सूक्ष्म रूप बताया गया है। ज्ञानके चार साधन हैं—विचार, वैराग्य, षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व। जब संसारके प्रपञ्चके यथार्थ रूपका विवेक जाग्रत् होता है, तब हमें अनुभव होता है—अनित्य क्या है ? सत्य क्या है? असत्य क्या है? दुःख क्या है ? सुख क्या है ? हमलोगोंको जो उलटा अनुभव हो रहा है, इसीका नाम मूर्खता है—यह विवेकके द्वारा एवं विशुद्ध बुद्धिके द्वारा जाना जाता है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

(गीता १८। १)

सबसे पहले भगवान्‌ने गीतामें इस ज्ञानकी परानिष्ठाका वर्णन करते हुए साधन बताया—'**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः**' विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो। विशुद्ध बुद्धिका नाम है विवेक। विशुद्ध बुद्धिका कार्य है वस्तुका यथार्थ रूप सामने रख देना। बुद्धिमें यदि कोई व्यभिचार है, वह बहुशाखावाली है, अनिश्चयी है तो वह विशुद्ध बुद्धि नहीं है। विशुद्ध बुद्धि या निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, वह दो नहीं होती, वह तो केवल भगवान्‌को देखती है।

बुद्धिकी विशुद्धिका नाम विवेक है। विवेक क्या करता है—वस्तुका असली स्वरूप सामने रख देता है। यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, इसे लो, उसे छोड़ो, यह मिथ्या है, यह सत्य है, यह नित्य है, यह अनित्य है—इस प्रकारसे विवेक जाग्रत् हो जाता है तो भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य हो जाता है। विवेक जाग्रत् होनेपर दीखता है कि ये जितने भोग हैं, सब अनित्य हैं, अपूर्ण हैं, दुःखमय हैं, दुःखयोनि—दुःखालय हैं—उन्हें कौन स्वीकार करेगा? जो स्वीकार करता है, वह बुद्धिमान नहीं है। गीतामें उसे मूढ़की संज्ञा दी गयी है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(७।१५)

आसुरी भावका आश्रय लेनेवाले ये विषयासक्त लोग मूढ होते हैं। विषयासक्ति अविवेकसे होती है। विवेक होनेपर तो वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होते ही छः सम्पत्तियाँ स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाती हैं—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। इन छः सम्पत्तियोंके प्राप्त होनेके बाद मोक्षकी इच्छाका उदय होता है। पर मोक्षकी इच्छामें भी स्वसुख-कामना है।

यह क्या है ? जहाँपर मोक्ष है या जहाँपर मुक्ति शब्द है, वहाँपर कोई बन्धन है, वहाँ कोई व्यक्ति या कोई अहं है। यदि अहं नहीं है तो बन्धन किसका? बन्धन नहीं है तो मुक्ति किसकी? यों मुक्तिमें बन्धनकी अपेक्षा है और बन्धनमें अहंकी अपेक्षा है। वह चाहता है कि मैं जो बँधा हुआ हूँ छूट जाऊँ—इसका नाम है—मुमुक्षा। मुक्तिमें भी मैंकी मंगलकामना वर्तमान है। यद्यपि मुक्ति और भगवत्प्रेममें स्वरूपतः अन्तर नहीं है, तत्त्वतः अन्तर नहीं है; एक ही स्थितिके दो रूप हैं; एक है रसाद्वैत और दूसरा है ज्ञानाद्वैत और वस्तुतः ये दोनों भी एक ही हैं, पर उसमें भी 'अहम्' की, मुक्तिकी आकांक्षा—स्वसुखवाञ्छा है। यह स्वसुखवाञ्छा जहाँपर है—वहाँ कामना है, चाहे मुक्तिकी ही कामना हो।

पद्मपुराणमें आया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

भुक्ति-मुक्तिकी पिशाची इच्छा जबतक हृदयमें वर्तमान है तबतक प्रेमके

अंकुरका उदय नहीं होता।

श्रीशंकराचार्यजी भी देवीकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे:
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।।

'हे देवि! न मुझे मोक्षकी आकांक्षा है और न मुझे संसारके सुखकी इच्छा है।'

जहाँपर मोक्षकी आकांक्षा है, वहाँपर भी काम है। चाहे वह विशुद्ध काम हो, परंतु जहाँ मुक्ति—मुक्तिकी कल्पना नहीं, जहाँ **'मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है', 'तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही केवल मेरे बन्ध'**—जहाँ भगवान् ही मोक्ष हैं, भगवान् ही बन्धन हैं, वहाँ स्वसुख—कामना नहीं। स्वसुख—कामनाका जहाँ सर्वथा अभाव होता है, वहाँसे व्रज—प्रेम आरम्भ होता है। इसलिये यह वस्तु बहुत ऊँची है।

श्रीकृष्णके इस मधुर वेणु—नादको सुनकर व्रजरमणियोंने अपनी—अपनी अन्तरंग सखियोंको मोहन मुरली—रवके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहा। वे बड़ी सावधानीसे कुछ बोलने लगीं। अंदरकी वस्तुको बाहर आने देनेमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। यह प्रेमका विषय है—उच्छ्वास है। इसे रसका समुद्र कहते हैं। अंदरके भावको छिपानेका जहाँ प्रयास होता है, उसे रस—शास्त्रकारोंने अनिच्छा—भाव कहा है। यहाँ भी अनिच्छा—भाव है। इसमें तैंतीस संचारी भाव होते हैं। यह विषय अलग है, अतः यहीं छोड़ रहे हैं।

ये व्रजांगनाएँ—व्रजरमणियाँ कृष्णप्रेमकी एक—एक अनन्त भण्डार हैं। प्रेम कभी पूर्ण नहीं होता—ज्ञान कभी अपूर्ण नहीं रहता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ ज्ञान नहीं है। जहाँ प्रेम पूर्ण हो गया, वह प्रेम नहीं है। प्रेम नित्य अपूर्ण है और ज्ञान नित्य पूर्ण है। यह व्रज, प्रेमका अनन्त भण्डार है। इस भण्डारमेंसे प्रेम निकालते चलो। यह भण्डार नित्य नये रूपसे भरता रहेगा, परिपूर्णतम रहेगा। परिपूर्णरूप प्रेमकी जो परिपूर्णता है, वह भी नित्य अनन्तकी ओर प्रवाहित रहती है, जिसका कभी अन्त होता ही नहीं। यह परिपूर्णता भी अपूर्ण है। यह बहती है अनन्तकी ओर, जिसका कभी अन्त नहीं आता। भगवान्‌के प्रेमकी ओर श्रीगोपांगनाओंकी प्रेमसुधा—धारा प्रवाहित होती रहती है, नित्य अनन्तकी ओर प्रवाहित होती रहती है। इसलिये कहा है कि यह प्रेम कभी पूरी न होनेवाली एक धारा है—अनन्त भण्डार है। इस प्रेम—समुद्रमें विलक्षण—विलक्षण, विचित्र—विचित्र भावोंकी तरंगें उठा करती हैं।

भगवान्‌के दो रूप हैं—एक शान्त आनन्द, दूसरा उच्छलित आनन्द—नाचनेवाला आनन्द। नाचनेवाला आनन्द प्रेम-भूमिकामें रहता है। प्रशान्त आनन्द ज्ञान-भूमिकामें रहता है। दोनोंका तल एक ही है। इन नयी-नयी भाव-तरंगोंके द्वारा गोपांगनाओंका हृदय निरन्तर आन्दोलित होता रहता है। भावकी रक्षा प्रेममें ही होती है। प्रेमकी स्वरसता है, पर प्रेमकी स्वरसतामें रसास्वादनकी विषमता है। समुद्र एक है, समुद्रके रूप-रंगमें कोई अन्तर नहीं है। पर समुद्रकी तरंगें विभिन्न भाँतिकी होती हैं—कभी बड़ी तीव्र, कभी बड़ी हल्की, कभी बड़ी मृदु। यदि ये एक-सी रहें तो समुद्रका तरंग-सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। जैसे समुद्र एक-सा होते हुए भी उसकी तरंगें भिन्न-भिन्न होती हैं, इसी प्रकार क्षण-क्षणमें प्रेम-राज्यमें प्रेमवती गोपियोंके अन्तःकरणमें नयी-नयी भाव-तरंगोंका उदय होता है।

ये गोपांगनाएँ आत्मगोपनवश अंदरकी बात छिपानेको प्रवृत्त तो हुईं; पर छिपा न सकीं। छिपानेकी चेष्टामें ही उनके सामने उनके हृदयपर वंशी बजाते हुए ये मदनमोहन स्वमनमोहन श्यामसुन्दर प्रकट हुए। ये स्वमनमोहन ऐसे हैं कि एक दिन उन स्वमनमोहन श्यामसुन्दरने दर्पणमें अपना मुँह देख लिया। बस, वे स्वयंपर मोहित हो गये। यह रूप कहाँसे आ रहा है? यह रूप तो हमें मिला ही नहीं, इसका आनन्द तो हमें मिला ही नहीं। यह आनन्द जिसको मिले, वह बड़ा भाग्यवान् है। <u>अपने स्वरूपका आनन्द श्रीकृष्णको अपने-आप नहीं मिलता, तभी वे राधारूप बने और अपने स्वरूपका आनन्द लिया।</u>

वस्तुतः जब श्रीगोपांगनाओंके आत्मगोपनकी चेष्टा बलवती हुई, तब क्या हुआ? उनकी ये भाव तरंगें श्यामसुन्दरके स्वरूप-सौन्दर्यतक जा पहुँचीं। उस स्मृतिसे उस समय उनके मनमें जो प्रेमका भाव उदय हुआ, मिलनेच्छा जाग्रत् हुई, उसे अप्रकट करती हुई वंशी-रवका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुईं। इस आत्मगोपनकी चेष्टामें—छिपानेकी चेष्टामें उनका स्वरूप प्रकट हो गया। वे विक्षिप्त-सी होकर किसीसे बोल न सकीं। आगे आयेगा कि वे एक दूसरेका आलिंगन करने लगीं—हृदयसे लगने लगीं। जिस रूपका उन्हें स्मरण हुआ, उसीका वर्णन श्रीशुकदेवजी करते हैं।

भगवान्‌के वंशी-निनादको सुनकर श्रीगोपांगनाओंमें एक विचित्र भावका उदय हुआ। उस भावोदयमें वे अपने-आपको निस्तब्ध नहीं रख सकीं। अपने हृदयके भावोंका वर्णन करना चाहा, पर वर्णन आरम्भ करते

ही श्रीकृष्णका मधुर—मनोहर रूप—सौन्दर्य और उनकी चेष्टाएँ उनके सामने प्रकट हो गयीं। एक ओर तो वे अंदरके प्रेमोदयजनित मिलनेच्छाके भावको छिपा रहीं थीं, दूसरी ओर बिना कहे रहा भी नहीं जाता था। इस अवस्थामें यह तीसरी वस्तु पैदा हो गयी, वह स्वरूप—सौन्दर्य सामने प्रकट हो गया। उसे देखनेमें वे विभोर हो गयीं और उसपर सोचने लगीं।

शुकदेवजी उसका वर्णन करते हैं कि वह रूप कैसा था, परंतु उसके लिये उनके पास कोई भाषा नहीं थी। शुकदेवजीका जो रूपवर्णन यहाँपर है, वह ठीक—ठीक खुलकर वर्णन कर सकते हों ऐसा नहीं है। वह दबी—सी जबानसे संक्षिप्त—सा वर्णन—पूरा न तो वे देख सके हैं और जितना देख सके, उसे भी वर्णन करनेकी भाषामें शक्ति नहीं। आचार्य लोग कहते हैं कि वाक्की अधिष्ठात्री देवी श्रीसरस्वतीजी भी यदि चाहें कि इस छविका वर्णन वाणीके द्वारा करे दें तो असम्भव है।

वास्तवमें वाणीद्वारा तो सम्भव बहुत कम वस्तुएँ होती हैं। दूसरी—दूसरी इन्द्रियाँ जिस प्रकारसे जिस वस्तुका अनुभव करती हैं, उनके अनुभवको केवल मन जानता है। वाणीके पास भाषा नहीं है कि उसे व्यक्त कर सके। जैसे, हमने किसी मीठी वस्तुको चखा, अब जीभको ज्ञात है कि वह मीठा कैसा है, जीभके द्वारा मन उसकी उपलब्धि करता है। हम कह दें कि बहुत मीठा, मिश्री—सरीखा मीठा तो मिश्री कैसी मीठी ? अब उसके लिये उपमान—उपमेय खोजते रहिये, सांकेतिक भाषामें भले कहें कि इससे अधिक या इससे कम, किंतु जीभने जो अनुभव किया उसे वाणी तो बता नहीं सकती। आँखसे हमने किसी वस्तुको देखा। आँखने मनके द्वारा उस रूपकी उपलब्धि की, पर उसका वर्णन कर सके यह आँखकी सामर्थ्य कहाँ ? क्योंकि—**'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'**—वाणीके पास नेत्र नहीं और नेत्रके पास वाणी नहीं।

इसलिये प्राकृतिक वस्तुओंका भी भाषामें, शब्दोंमें जो वर्णन होता है, वह बहुत सीमित होता है, किंतु जहाँ अप्राकृतिक तत्त्व हैं, जहाँ सारा—का—सारा सच्चिन्मय है, उसे भौतिक आँखें कभी—कभी चिन्मयताको प्राप्त कर—दिव्य नेत्र पाकर भी वर्णन नहीं कर सकतीं। भगवान्‌ने दिव्य नेत्र दिये अर्जुनको विराट् रूप देखनेके लिये। कभी—कभी दिव्य नेत्र पाकर कुछ देरके लिये भले उसकी उपलब्धि कर लें, किंतु उसके वर्णनके लिये भाषा नहीं है, जो व्यक्त कर सके। शुकदेवजीने ऐसे नेत्र प्राप्त किये थे, उनसे वे किसी अंशमें

देख तो पा रहे थे, परंतु वर्णन करनेकी भाषा या शब्द उनके पास भी नहीं। वास्तवमें पूरी-पूरी उपलब्धि उन्हें भी नहीं हुई—किसीको भी नहीं होती। वे कह सकते हैं, जिनके नेत्रोंमें ही उस स्वरूपका निर्माण होता है। जिनके लिये उस रूपमें वे स्वयं परिणत होते हैं। यह प्रकृतिकी विकृति होती है, ऐसा नहीं है, वे तो स्वयं सच्चिदानन्दमयविग्रह हैं। उनके भक्तका जब जैसा मन होता है, उसी प्रकारसे वह रूप प्रकट होता है। गोपियोंके मनमें जो एक सौन्दर्य-माधुर्यकी कल्पना आयी, उसी रूपमें वह सौन्दर्य-माधुर्य प्रकट हो गया। कहते हैं कि जो ये भावमती व्रजरमणियाँ थीं, उन्होंने अपने भावके द्वारा भावरूपी भगवान्‌के उस रूपको देखा। वह जो स्वरूप था, उसकी न तो कहीं कोई तुलना है, न उससे विशेष सुन्दर कोई वस्तु हो सकती है। असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यका वह घनीभूत मूर्त स्वरूप था। जिस सौन्दर्य, जिस माधुर्यकी कहीं कोई तुलना नहीं, जो माधुर्य और सौन्दर्य सबसे विशेष हैं, इस प्रकारके सौन्दर्य-माधुर्यकी मूर्तिमयी प्रतिमा वह नटवर-वपु था।

वंशी-माधुर्यका वर्णन करते-करते श्रीगोपांगनाओंके मनमें, हृदयमें और नेत्रोंके सामने मनमोहनकी छवि विकसित हो गयी। वे प्रेमावेशमें मग्न हो गयीं और अपने कलित नेत्रोंसे एक दूसरेकी ओर देखती हुयी अपने श्यामसुन्दरको प्रेम-भरे नेत्रोंसे निरखने लगीं। एकमात्र भगवान् श्यामसुन्दरका प्रीतम-प्रेष्ठ, मधुरतम सौन्दर्य-माधुर्य ही उनकी आकांक्षाकी एकमात्र वस्तु है। मानो सारी आकांक्षाओंने सब जगहसे सिमटकर—एकीभूत होकर उनके मनपर अपना अधिकार जमा लिया है। ये हैं अनन्य आकांक्षाकी एकमात्र घनीभूत मूर्ति। यह प्रेमियोंकी, भक्तोंकी आकांक्षाका संकेत है। जिनकी आकांक्षाएँ बहुमुखी होती हैं, बहुत वस्तुओंको जिनका मन चाहता है, वे आकांक्षाएँ न कभी पूर्ण होती हैं और न कभी उनसे सुख मिलता है। कामना उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। कामनाकी पूर्ति भी कामनाका नाश नहीं करती—वह तो कामनाको बढ़ाती रहती है। ज्यों-ज्यों अग्निमें ईंधन और घी पड़ता है, त्यों-त्यों अग्नि और भी प्रज्वलित होती है, भड़कती है, इसी प्रकार कामनाकी आग भोगोंकी प्राप्तिसे बुझती नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ती है। संसारके भोगोंकी यह स्वाभाविक स्थिति है। वे अनित्य हैं, अपूर्ण है, विनाशी हैं, अतएव दुःखमय हैं। दुःखमय भोग कभी सुखकी प्राप्ति करा दे—यह असम्भव है। भ्रमसे सुखकी प्रतीति एक बार हो सकती है। वह सुख भी विषयोंसे नहीं आता। कामनाकी वस्तु जब प्राप्त होती है, तब कुछ क्षणोंके लिये चित्त स्थिर होता है, सुखकी

अनुभूति करता है। सुख आता है आत्मसंतोषसे, दूसरोंसे या विषयोंसे नहीं। उस सुखको वह भूलसे मान लेता है विषयोंसे मिला हुआ। विषय तो चोट ही करते हैं। वे तो घाव ही करते हैं, कभी आराम पहुँचाते नहीं। यह तो हुई विषयोंकी बात। बुद्धिमान् आदमी विषयोंकी आकांक्षाको छोड़ देता है। यह बुद्धिमान्‌की परिभाषा है—

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

जितने भी संस्पर्शजनित—इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका संस्पर्श होनेपर प्राप्त होनेवाले सुख-भोग हैं, ये सारे-के-सारे दुःखयोनि हैं, दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि एवं अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् आदमी इनमें रमता नहीं। विषयोंमें बुद्धिमान् आदमी प्रीति नहीं करता। जो भक्त और प्रेमी हैं, वे तो बहुत आगे बढ़ जाते हैं। उनकी स्वसुख-कामनाकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। उनके जीवनमें तो एकमात्र कामना रह जाती है प्रीतमसुखकी। वह सुख यदि उनके सौन्दर्य-माधुर्यके द्वारा हमें मिलता है या उन्हें मिलता है तो वह वाञ्छित है। यदि हमारे किसी महान्-से-महान् गुरुतर दुःखसे उन्हें सुख होता है तो वह अपेक्षित है। सारी आकांक्षाएँ एकमात्र प्रीतम-सुखकी आकांक्षामें जाकर विलीन हो जाती हैं, केन्द्रित हो जाती हैं।

गोपियों द्वारा नटवरवपुका ध्यान

वनभूमिमें भगवान् श्यामसुन्दरके भ्रमण करनेकी बातको जानकर श्रीगोपांगनाओंकी आकांक्षा उनके सुमुख-सौन्दर्यमें जाकर लगी और वहाँ स्वरूप-सौन्दर्यका प्राकट्य हो गया। उन्होंने समझा कि हमारी एकमात्र आकांक्षाके धन, हमारे प्राणोंके प्राण, हमारे हृदयवल्लभ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन आज इस व्रजके मार्गको—पथको समुज्ज्वल करते हुए अपने समवयस्क गोपबालक मित्रोंके साथ उनसे घिरे हुए, वेणु बजाते हुए और नाचते हुए विचित्र-विचित्र भंगिमाएँ करते हुए वनमें प्रवेश कर रहे हैं।

उनका रूप देखा तो दिखायी दिया कि भगवान्‌के मस्तकपर घने-कृष्ण कुंचित केश हैं। घुँघराले काले और घने केश, 'अलकनिकी छवि लखि अलिकुल लाजत' ऐसा कहा है व्रजके संतोंने। ऐसे कृष्णघन और

घुँघराले केशको देखकर ऐसा मालूम होता है कि मानो हजारों—हजारों भ्रमरावलीका समुदाय वहाँ इकट्ठा हो। उनके इस घने—कृष्णकेश—स्वरूपको देखकर भ्रमर—कुल भी लज्जित हो रहा है। उन केशोंको ऊपर करके मैयाने जूड़ा बना दिया और बाँध दिया। उस बँधे हुए जूड़ेपर मैया प्रतिदिन शृंगार भी करतीं। मणिमुक्ताकी लड़ें और विचित्र—विचित्र प्रकारके आभूषण श्रीकृष्ण खोंसे हुए हैं—चारों ओर लगाये हुए हैं। मैया एक दिन शृंगार कर रही थीं। आज श्यामसुन्दरके मनमें अपना ऐश्वर्य—माधुर्य प्रकट करनेकी बात उठी। मैयाने बड़ा सुन्दर—बड़ा अच्छा शृंगार किया। शृंगार जब हो गया, तब मैयाको ऐसा प्रतीत हुआ कि शृंगार करनेपर इसका सौन्दर्य तो पहलेसे बिगड़ गया। यह तो पहले ही अच्छा था। मैयाने शृंगार उतारा और फिर सारा नया किया। अब तो और भद्दा मालूम हुआ। बार—बार शृंगार करें और बार—बार उतारें। गोपियाँ वहाँ खड़ी थीं। वे मैयाकी इस मनोदशाको देख रही थीं। श्रीकृष्णकी योगमायाने उनमेंसे एक गोपीद्वारा कहलाया कि मैया! तू समझती है कि शृंगार करके अपने साँवले पूतको सजा देगी तो भले ही खूब सजा, पर मैया! शृंगार खोलके तो देख।' मैयाने शृंगार उतारकर देखा तो मालूम हुआ कि ये तो बिना शृंगारके ही बहुत सुसज्जित हैं। इनके साथ सजकर शृंगार तो स्वयं धन्य होता है। ये तो भूषणोंके भूषण हैं, अलंकारोंके अलंकार हैं, गहनोंके गहने हैं, शोभाकी शोभा हैं, सौन्दर्यके सौन्दर्य हैं, माधुर्यके माधुर्य हैं। सारे माधुर्य, सारी सुषमाएँ इन्हींसे निकली हैं। ये ही इन सबके समुद्र हैं। उन्हें मैया प्रतिदिन सजाती हैं, यह उनका वात्सल्य है। गोपियोंने देखा कि श्रीकृष्णके जूड़ेपर मणि—मुक्तादि—खचित सुन्दर—सुन्दर आभूषण लगे हुए हैं और उसके ऊपर एक बड़ा सुन्दर अर्ध—चन्द्राकार मयूर—पिच्छ सुशोभित है, जैसे नवीन मेघमें इन्द्रधनुष दीख पड़े। बड़ा सुन्दर रूप है। इस प्रकार नटवर—वेषमें श्रीश्यामसुन्दरको देखकर गोपांगनाएँ क्रीडानन्दमें मग्न हो गयीं, अपने—आपको भूल गयीं।

शुकदेवजीने जैसा कहा, जो उनकी आँखोंमें आया, वह 'नटवर—वपु' अर्थात् नटवर या नटवरके समान है। यह सब तो उनकी समझमें कुछ आया नहीं कि ये नटवर हैं या नटवरके समान हैं। उन्होंने सोचा कि तीनों लोकोंमें क्या कोई ऐसा नटवर है, जिसे उपमान बनाया जा सके और श्रीकृष्णके शरीरको उपमेय बनाया जाय। संस्कारमें कहनेमें आता है कि इसका मुख चन्द्रमाके समान है। इसकी गम्भीरता समुद्रके समान है।

इसका बल सिंहके समान है। ये जितने प्रकारके उपमान संसारमें प्रचलित हैं, उनसे यह मालूम होता है कि चन्द्रमा, समुद्र आदि उपमान एवं मुख आदि उपमेय हैं। उपमान—उपमेयके वर्णनमें ऐसा देखा जाता है कि उपमेयकी अपेक्षा उपमान श्रेष्ठ होता है। सिंहके समान इसका बल है—इसका अर्थ है कि सिंह श्रेष्ठ है। चन्द्रमाके समान उसका मुख है तो चन्द्रमा उपमान है, मुख उपमेय है। इस उदाहरणसे मुखकी अपेक्षा चन्द्रमाकी श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई। इसी भाँति नटवरके समान इनका वपु है, इससे यह स्वतः सिद्ध हुआ कि कोई नटवर ऐसा संसारमें होगा, जिस नटवरसे इनकी उपमा दी जाय तो वह नटवर श्रीकृष्णकी अपेक्षा अधिक सुन्दर सिद्ध हो गया, किंतु सच्ची बात तो यह है कि श्रीकृष्णका स्वभावसिद्ध जो सौन्दर्य—माधुर्य है, उससे बढ़कर सौन्दर्य—माधुर्यकी कल्पना जगत्में कहीं हुई नहीं, मिली नहीं, होगी भी नहीं। ऐसी अवस्थामें किसी दूसरे नटवरके समान उपमान बनाकर श्रीशुकदेवजीने कहा हो, देखा हो, सो बात नहीं, यहाँ तो श्रीकृष्ण ही नटवर हैं। ये ही उपमान हैं और ये ही उपमेय। यहाँ उपमेयकी अपेक्षा उपमान श्रेष्ठ है, ऐसा नहीं है। यहाँ उपमानकी अपेक्षा उपमेय ही श्रेष्ठ है। यदि ऐसा न मानें तो श्रीकृष्णका जो सौन्दर्य—माधुर्य है, उनकी जो कलाएँ हैं, चेष्टाएँ हैं, ये सब दूसरेके द्वारा आस्वादन की हुई जूठी हो जाती हैं, बासी हो जाती हैं। श्रीकृष्णका, ब्रह्मका, भगवान्का सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान जो कुछ भी है, ये सारा—का—सारा जूठन नहीं है; अपितु इसीकी जूठन सारे संसारको मिलती है। संसारमें जितना भी सौन्दर्य—माधुर्य है, ज्ञान है, ऐश्वर्य है, बल है, यह सारा—का—सारा उसी सन्निधिका योगमात्र है। वह न उपमेय है, न उपमान।

श्रीकृष्णकी अनुरागवती श्रीगोपांगनाओंने श्रीकृष्णकी मूर्तिको देखकर अन्तमें यही सोचा कि बस यही उपमेय है। फिर उनके मनमें एक बात और आयी कि यह कल्पना हमारे मनमें कैसे आयी ? हम तो जानतीं नहीं कि जगत्में कोई और नटवर है ! जगत्में दूसरा कोई है भी, इसका हमें कुछ पता नहीं। किसी अनजान नटवरकी कल्पना भी हम कैसे करें ? जगत्में कोई भी इनके सिवा नटवर है ही नहीं। एकमात्र ये ही हैं। गोपियोंकी आँखोंमें श्रीकृष्णके सिवा और कुछ है ही नहीं। वे कहने लगीं बस, बस यही नटवर है। जहाँतक दृष्टि जा पाती है वहाँतकका सभी सौन्दर्य—सब कुछ इनका ही है। नखाग्रसे लेकर केशाग्रतक जहाँ दृष्टि जाय, सभी

सौन्दर्य–माधुर्य मानो स्वयं यहाँ कीर्तिमान् हो रहा है। उनके अंग–प्रत्यंग, वस्त्र–आभूषण, चेष्टा सभी सुन्दर हैं, सभी नटवर हैं। नटवर–वपुका अर्थ यह हुआ कि यहींपर इनका सब कुछ नट बन रहा है। सब कुछ नटवर है, नट है। यह जो वर्णन है, वह किसी दूसरे नटवरके समान नहीं है। ये स्वयं नटवरके समान नहीं हैं। ये स्वयं नटवर–वपु हैं और इसी नटवर–वपुसे वनभूमिमें प्रवेश कर रहे हैं। गोपांगनाओंको ऐसा प्रतीत हुआ कि इन नटवरके पैर ही नहीं नाचते, नटवर–वपु हैं तो इनका सारा–का–सारा जो कुछ भी है, मानो सब कुछ नृत्य–परायण है, नाच रहा है।

उन्होंने देखा कि वे सारी नृत्य–कलाओंको मात कर देनेवाले हैं। शिवजीके ताण्डव तथा औरोंके अनेक नृत्य हैं। पर कभी किसीने सुना कि साँपके फणोंपर कोई नाचता है ? साँपके फणोंपर नृत्य किया इन्होंने। किसीने कभी देखी है ऐसी नृत्यकी भंगिमा। कहीं अस्त–व्यस्तता नहीं है। ठीक–ठीक नृत्य हो रहा है। पर सर्पपर नृत्य, हजारों विषपूर्ण फणोंपर नाचनेवाला नृत्य। यह सकल नृत्यकला–विनिन्दित नृत्य है इनका। ऐसी ही स्वाभाविक है इनकी चरण–भंगिमा। वे नाचते हुए नटवर–वपु हैं। पैर चलाते हैं नाचते हुए, ऐसा दीख रहा है। चरणोंमें नूपुर मानो रिमझिम–रिमझिम ध्वनि करते हुए पैरोंके साथ नाच रहे हैं। फिर देखा कि वे पीत वस्त्र पहने हुए हैं और नाचते हुए चल रहे हैं। वे पवनके वेगसे झूम रहे हैं, संचरित हो रहे हैं तथा पीत वसन भी नाच रहा है। मुरलीके छिद्रोंपर उँगलियाँ पड़ रही हैं, वे भी नाच रही हैं। अंगुली भी नृत्य–परायण है और मणियुक्त जो नासाग्र है वह भी वायुके द्वारा हिल रहा है। इस समय वे नाचते हुए चल रहे हैं न, इसलिये गजमुक्ता भी नाच रहा है। खंजनके जोड़ेको भी मात करनेवाले जो इनके नेत्रयुगल हैं, वे भी नाना भंगिमाओंमें नृत्य कर रहे हैं। नेत्रोंके संचालनसे जो दोनों भृकुटियाँ हैं, वे भी इधर–उधर नाच रही हैं। गमनके वेगसे उनके कानोंके देदीप्यमान मकराकृत कुण्डल भी नाच रहे हैं। लम्बे–लम्बे घुँघराले काले केश हैं। वायुके संचालनके साथ वह केशराशि भी नाच रही है। सारे केश नृत्य–परायण हैं। कुन्तलराशिके जूड़ापर बँधा हुआ मनोहर पंख भी नाच–नाचकर सबको मोहित कर रहा है। इस प्रकार उनके सारे अंग–प्रत्यंग नाच रहे हैं। नटवर–वपु हैं न अर्थात् कोई भी नाचके बिना बाकी नहीं। इनकी नृत्य–भंगिमाको देखकर जो गायोंके रखवाले इनके साथी–संगी हैं वे भी नाच रहे हैं। सभी गोपबालक

भी नाच रहे हैं। सबको नाचते देखा तो गायोंके पैर भी नाचने लगे। इस प्रकार गायें नाचती हुई चलने लगीं। इनके नृत्यने वनभूमिको नृत्यमय बना दिया, वंशी-रवकी तालपर पशु-पक्षी भी नाचने लगे। वृक्षकी शाखाएँ हिल-हिलकर स्वागत करती हुई नाचने लगीं। सब लताएँ-बेलें भी उस समय पवनसे आन्दोलित होकर नृत्य करने लगीं। यमुनामें विशेष तरंगें उठने लगीं। यमुनाकी तरंगे भी नाचने लगीं। यहाँतक कि जिन्होंने इस नृत्यको देखा, सुना, गाया, वे सब नाचने लगे। गोपांगनाएँ भी नाचने लगीं। यह जो सारे जगत्‌को आनन्दमें नचा देनेवाला सौन्दर्य-माधुर्य है, वही तो वास्तवमें नटवर-वपु है।

सारा जगत् नाच रहा है। आगपर पड़नेसे कष्टके मारे जैसे कोई नाच उठे, वैसे ही हमलोगोंका—जगत्‌के प्राणियोंका नृत्य है। मायामोहित विषय-वासनासे विदग्ध जीव तो जन्म-मरणके डरके मारे नाच रहे हैं। हमारा नाचना अस्त-व्यस्त नाचना है। यह भोगासक्तिका नाचना है। यह नाचना दूसरे प्रकारका है। यहाँ जो नृत्य है वह दिव्य मधुमय नृत्य है। यह नृत्य जगत्‌को भुलाकर, जगत्‌के अन्धकारको मिटाकर, जगत्‌की ज्वालाको बुझाकर केवल और केवल नित्य आनन्दमय है। जगत्‌के प्रलोभनोंसे ग्रस्त नृत्यपरायण प्राणियोंकी तुलना नटवरके दिव्य नृत्यसे कैसे की जाय। ये तो अनुपम नटवरशेखर हैं। इनका अंग-प्रत्यंग ही नटवर है। ये नटवर-वपु हैं। सारा अंग-प्रत्यंग, आभूषण, संगी-साथी, प्रकृति-वनचर, सब-के-सब मूल—जल, आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी—ये सब-के-सब इनके साथ नाच रहे हैं; क्योंकि ये नटवर-वपु हैं।

नटवर-वपु श्रीश्यामसुन्दरने वन-गमन-कालमें कर्णिकारके पुष्पोंको कानोंमें धारण किया है आभूषणके रूपमें। यह था उनके अनुपमेय कैशोर-माधुर्यका उल्लास और उनमें नवीन-नवीन विचित्र-विचित्र शृंगारिक भावोंका उद्दीपन। श्रीकृष्णके कानोंमें सुशोभित इन कनेरके फूलोंको सभीने देखा होगा—ये पीले रंगके होते हैं। सूर्यमुखी फूलकी तरहके इन कर्णिकारके फूलोंको श्रीकृष्ण कानोंमें क्यों धारण करते हैं ? वे एक ही फूलको लेकर कभी इस कानमें लगाते हैं तो कभी उस कानमें। वे ऐसा क्यों करते हैं ? सूर्यमुखीके फूलकी तरह कनेरके पुष्प भी ज्यों-ज्यों सूर्य उत्तरावर्ती-दक्षिणावर्ती होते हैं, त्यों-त्यों ये भी सूर्यके मुखकी ओर हो जाते हैं। जब सूर्य अस्त होता है, तब वे बिल्कुल पश्चिमाभिमुख हो जाते हैं तथा सूर्यास्तके साथ-साथ ये भी मुँद जाते हैं;

रसानन्दचूड़ामणि, रसराज, परमप्रेम-स्वरूप, श्रीगोपांगनाओंके प्रेमके भी मूर्तिमान् घन-स्वरूप श्रीकृष्ण कर्णिकारके एक पुष्पको लेकर कभी इस कानमें तो कभी उस कानमें लगाते हैं। इसका एक मुख्य कारण है श्रीगोपांगनाओंके प्रेमका समादर करना। इसमें एक ही फूलको बार-बार इधर-उधर लगानेमें इनके कैशोरका प्राकट्य होता है। श्यामसुन्दर जब वनको जाते, तब गोपांगनाएँ अपने-अपने घरोंकी छतपर खड़ी हो जातीं। कुछ अपने-अपने दरवाजोंपर भी खड़ी रहतीं और जहाँतक श्यामसुन्दर दीख पड़ते वहाँतक उन्हें खड़ी देखती रहतीं। इसके पश्चात् अपने-अपने कोठोंके ऊपर चली जातीं। घरवालोंसे कह-सुनकर गोपांगनाओंने श्रीकृष्णको देखनेके लिये ही घरोंमें ऊँची छतें बनवा ली थीं। वे ऊपर जाकर खड़ी हो जातीं और दूर-दूरतक—सुदूरतक श्रीकृष्णके सौन्दर्यको देखा करतीं। इधर वे वन-भूमिमें प्रवेश कर रहे हैं और उधर कोठोंपर, अट्टालिकाओंपर खड़ी हैं श्रीगोपांगनाएँ। वनका रास्ता सीधा तो है नहीं, यह उल्टा-सीधा, दाहिने-बायें, पलटता रहता है। अट्टालिकाओंपर, महलोंपर, महलोंकी छतोंपर व्रजांगनाएँ खड़ी हैं। जैसे सूर्य तो ऊपर रहता है और कनेरका पुष्प नीचे। सूर्यकी ओर देखकर कनेर-पुष्प उसी दिशाकी ओर ही अपना मुख कर लेता है। इसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दर भी जिस ओर अट्टालिकाओं और महलोंके गवाक्ष पड़ते हैं, इनके ध्यानमें सब हैं—उसी ओर वे फूल लगा लेते हैं। जैसे सूर्यको देखकर उसी ओर कर्णिकारका पुष्प अपना मुख कर लेता है, उसी प्रकार श्रीगोपांगनाओंके मुखकी ओर वे भी कर्णिकारके फूलका मुख कर देते हैं और अपने कानपर लगा लेते हैं। ये गोपांगनाएँ आँख लगा देती हैं और ये कान लगा देते हैं। व्रजनारियोंकी प्रगाढ़ प्रीति, अनन्य-उच्चतम परम-दिव्य, कामना-वासना-शून्य, अनुपम प्रेमका एक निदर्शन है यह कनेरका पुष्प, इसीलिये गाढ़ प्रीतिका ज्ञापन करनेके लिये, गाढ़ प्रीतिरसका आस्वादन करनेके लिये स्वयं श्रीकृष्ण इन कनेरके फूलोंका शृंगार करते हैं।

नटवर-शेखर नव-जलधर-विनिन्दक श्यामल वपुपर द्रवित स्वर्णके समान समुज्ज्वल पीतवर्ण है उनका। यह उपमा कहीं लग नहीं सकती। भगवान्‌का जो वर्ण है वह नीला नहीं है। वे श्याम नहीं हैं। तुलसीदासजीने थोड़ी इसमें खोज-बीन करनेकी चेष्टा की। उन्होंने नील-सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम—तीन उपमाएँ दीं। इनपर उपमाएँ सब बैठती नहीं।

ये तो उपमातीत हैं, अनुपमेय हैं; किंतु भक्त लोग—प्रेमी लोग अपने देखे हुए रूपका वर्णन भाषामें तो आता नहीं—संकेतसे करते हैं। यदि ये कह दें कि वे केवल नील कमलके समान हैं। तो नील कमलमें प्रकाश नहीं है, उज्ज्वलता नहीं है। कोमलतामें तो नीलकमलके समान कोमल है और नीलमणिके समान प्रकाशयुक्त एवं चिकने हैं। नीलमणि हाथ लगानेपर बड़ी चिकनी जान पड़ती है, साथ ही बड़ी कठोर भी होती है, पर प्रकाशयुक्त होती है। वे नील नीरधरके समान रसवान् है। नीरधरमें रस भी है, प्रकाश भी है, कोमलता भी है। इनका जो नील श्याम वर्ण है वह नीलकृष्ण भी उज्ज्वल आभायुक्त हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप है नील हरिताभ उज्ज्वल आभायुक्त, 'केकीकण्ठाभनीलम्'। जैसे मयूरके गलेमें जो नीलिमा होती है उसमें साथमें हरीतिमा भी रहती है। इसीलिये बंगालके लोग भगवान् श्रीरामकी हरे रंगकी मूर्ति बनाते हैं। श्रीकृष्ण हैं नीलकृष्णाभ। नीलकृष्ण वर्णपर पड़ रही है यह आभा। स्वयं उनके अंदरसे प्रकाशका पुञ्ज निकल रहा है, नित्य विद्युत्की भाँति उनके रोम-रोमसे प्रकाश निर्गत हो रहा है। भगवान्के इस प्रकाशपुञ्जमें ही उनका श्रीविग्रह रहता है, जो अनन्त कोटि सूर्यके समान उज्ज्वल प्रकाशयुक्त है तथा तापरहित, उज्ज्वल, अनन्त-अनन्त चन्द्रमाओंके सुधा-शीतल प्रकाशके साथ समन्वित है।

इसी प्रकार श्रीकृष्णका जो नीलकृष्णाभ उज्ज्वल वर्ण है, उसपर यह पिघले हुए स्वर्णके समान समुज्ज्वल पीतवर्ण है। इनके पीले वर्णकी उपमा यहाँके किसी पीले रंगसे नहीं हो सकती। ये नारंगी रंगके भी नहीं है। अलसी-पुष्पके समान भी नहीं है। ये विचित्र दिव्य पीतरंग हैं, जो भगवत्स्वरूप है। इसकी थोड़ी-सी-उपमा यही है कि गलाये हुए सोनेकी तरह, जो कड़ा नहीं होता। इनके जो वस्त्र हैं, वे बड़े सुकोमल हैं। ये रेशमी कपड़े क्यों पहनते हैं, इसलिये कि ये सुकोमल हैं, अतः सुकुमार अंगमें उनके द्वारा आराम मिलता है पर उनकी सुकुमारता भी और इनकी शक्तिमत्ता भी 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' है।

जब कंसके दरबारमें प्रवेश किया इन्होंने, तब पहलवानोंने देखा कि ये तो वज्रके समान शरीरवाले आ गये, और माता-पिताने देखा कि ये तो सुकुमार हैं, हमारे नन्हें-से बच्चे हैं। भगवान् रामचन्द्र जब लंका विजय करके आये और माताकी गोदमें बैठने लगे, तब कौशल्या मैयाने उन्हें गोदमें बैठा लिया। वे सिरपर एवं बदनपर हाथ फिराने लगीं और हाथ

फिराती—फिराती हुई बोलीं—'ये सब लोग पगले हैं, ऐसा मालूम होता है। पूछा क्यों ? 'हमारे इस रामने रावणको मारा ! यह कभी सम्भव है भला ? कितना सुकुमार है ! कितना कोमल है ! यह कहीं बाण मार सकता है ? बाण सह सकता है भला ? यह काम तो गुरुजीकी कृपाने ही किया है।' श्रीरामने कहा—'हाँ माँ, यह बात बिल्कुल ठीक है, यह सारा काम तो वशिष्ठजी महाराजकी कृपाने ही किया है। हमने कुछ नहीं किया।' माताको उनके अंगोंमें कहीं कठोरता दिखती ही नहीं। कोमल—से कोमल, कठोर—से—कठोर सब कुछ हैं भगवान्।

बड़े सुकोमल हैं ये। बीच—बीचमें ऐश्वर्यका जो प्रकाश मिलता है, वह असुरादिको मारनेके लिये। उस समय उतनी देरके लिये, उनके लिये कठोर बन जाते हैं ये। श्रीगोपांगनाओंके लिये, माताओंके लिये, सखाओंके लिये ये सुकोमलतम हैं।

इनके सुकोमल नील श्याम, नीलकृष्णाभ उज्ज्वल शरीरपर यह वस्त्र बड़ा सुकोमल और रसमय है। सोनेकी उपमा देनेपर सोना बड़ा कड़ा पत्थर—सा होता है, ऐसी बात नहीं। द्रवित (पिघला हुआ) सोना जिसका सारा—का—सारा मैल निकाल दिया गया, ऐसा जो स्वर्णमय समुज्ज्वल पीतवर्ण है, इस प्रकारका उनके कपड़ोंका—वस्त्रोंका वर्ण है, रंग है।

पीला वस्त्र ही क्यों पहना उन्होंने ? श्रीराधाजी और गोपांगनाओंका जो वर्ण है, वह मन्दपीताभ उज्ज्वल वर्ण है हल्का—सा पीलापन लिये हुए। बड़ा सुन्दर हल्का—हल्का पीलापन, अत्यन्त उज्ज्वल आभायुक्त है। उन्होंने अपने वस्त्रका रंग रखा है उनके अंग—वर्णका। राधाजीका नील वसन है। मानो भगवान्‌के अंगसे ही आच्छादित है। नित्य—निरन्तर श्यामसुन्दरका श्रीअंग नील है न ! श्रीश्यामाजी—राधाजी नील वर्णका वसन इसलिये स्वीकार करती हैं; क्योंकि यह श्यामसुन्दरका अंग—वर्ण है। मानो श्यामसुन्दरके द्वारा ही उनका सारा अंग श्याम—वर्णसे आच्छादित है। श्यामसुन्दरका नील श्रीविग्रह और श्रीराधा तथा श्रीगोपांगनाओंके प्रेममय विग्रह (शरीर) पाञ्चभौतिक नहीं हैं। ये सब दिव्य चिन्मय भगवत्स्वरूप ही हैं। पुराणोंमें (ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराणमें) स्पष्ट शब्दोंमें—व्याख्यामें नहीं—श्रीकृष्णके अपने वाक्य हैं—भगवत्स्वरूपा जो गोपांगनाएँ हैं, उनके प्रेमसे उनके प्रेमका प्रतीक उज्ज्वल पीताभ वर्णका वस्त्र वे धारण करते हैं। इनके प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रीतिका ज्ञापन करते हुए, उनके पीत वर्णके वसनोंसे अपने अंगोंको आच्छादित

करके अपने अन्तरकी महान् प्रीतिको वे बतला रहे हैं।

उनके नीलमणि-सदृश वक्षःस्थलपर **'वैजयन्तीं च मालाम्'** पाँच वर्णोंके पुष्पोंकी माला सुशोभित है—वैजयन्ती माला। यह माला मृदुमधुर गतिसे आन्दोलित होती है। ज्यों-ज्यों यह आन्दोलित होती है, त्यों-त्यों श्रीगोपांगनाओंके हृदयमें नये-नये भावोंका आन्दोलन चलता है। उस आन्दोलनसे उनका हृदय आन्दोलित होता रहता है नित्य नया। यह वैजयन्ती माला पाँच रंगके पुष्पोंकी है। पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ये पाँच रस मानो उनके हृदयपर झूलती हुई मालामें नाच रहे हैं। इसलिये यह माला श्रीगोपांगनाओंके हृदयमें पञ्चविध भाव-तरंगोंको उठा-उठाकर अनेक स्वरोंसे उनके हृदयमें भावको लहरा रही है।

साथ ही ये श्यामसुन्दर अधर-सुधासे मुरलीके छिद्रोंको आपूरित कर रहे हैं, भर रहे हैं,' **आपूरयन्**'—बाहरी भाव इसका यह है। यद्यपि मुरलीके साथ उनकी तुलना नहीं होती, जो भगवान्‌के अपने हो जाते हैं, उनके छिद्रोंको भगवान् अपने अंदरके रससे भर देते हैं। उन्हें अपने छिद्र नहीं देखने पड़ते। दूसरी बात यह है—यह भी बाहरी बात है कि श्रीकृष्णका नित्य संग प्राप्त करके भी छिद्र रह जाय ? यह बड़े क्षोभकी बात है। यह मुरली है नित्यसंगिनी भगवान्‌की। भगवान्‌ने सोचा कि यह ठीक नहीं। अपना, अपने अधरका अमृत देकर उन छिद्रोंको पूर्ण करनेकी भगवान्‌ने इच्छा की। अपनी अंगुलियोंसे उन छिद्रोंको ढक लेते हैं वे तथा अपने अधरोंके द्वारा अधर-सुधा देकर फूँक मारते हैं तथा फूत्कार करते हैं। नहीं तो मुरली बजती नहीं। वे उसमें अपना अधर-सुधारस ढाल देते हैं, किंतु ये छिद्र बंद नहीं होते। मुरलीमें कोई बाहरी वस्तु, निन्दाकी वस्तु नहीं बची। जिसका अंदर सूना हो जाय एकदम, बाहरसे अच्छा संग भी प्राप्त करे—ऐसी स्थिति है मुरलीकी। मुरली भगवान्‌के रसके प्रवाहको दूर-दूरतक वितरित करनेवाली है। सात छिद्रोंके द्वारा मुरली अपने अंदर भगवान्‌के रसको भरती है। उन्हीं छिद्रोंके द्वारा निनादके रूपमें निकालकर—वंशी-ध्वनिके रूपमें निकल-निकलकर सारे विश्वको अमृतमय बना देती है। यह मुरलीका काम है। भगवान् अपने अधर-रसका उसके अंदर प्रवेश करवाते हैं, अधर-रस ढालते हैं। उसमें नौ छिद्र रहते हैं, किसीमें सात रहते हैं। आठ हुए बंद और एकमें फूँका तो यह रस आकर नीचेवाले छिद्रसे बाहर निकल गया ध्वनि बनकर, रसपूर्ण प्रवाह बनकर।

उसने सारे जगत्‌को उस रससे आप्लावित कर दिया।

भगवान्‌की मुरली भगवान्‌की परम सहायिका है उस रसका विस्तार करनेमें। मुरली न होती तो गोपांगनाएँ आतीं कैसे ? मुरली भी गोपी थी। मुरली जो रसमयी ध्वनि बजाती है वह उसकी अपनी ध्वनि नहीं है। अपने तो शून्य है, मौन है। उसके अंदर कुछ हो तो बजाये ! बजेगी कैसे ? अंदरसे कुछ है ही नहीं। वह स्वयं मौन है। श्यामसुन्दर जब चाहते हैं, तभी मुरलीको माध्यम बनाकर उसीके द्वारा रसदान तथा रसपान करते हैं। उस अपने दिये हुए रसको मुरलीके द्वारा ही विश्वके प्राणियोंमें वितरित करते हैं। जहाँ जैसा प्राणी होता है, वह अपने अनुरूप उसे ग्रहण करता है। गोपियाँ, ब्रह्माजी, शंकरजी और माताएँ अपने-अपने भावके अनुसार सुनती हैं। भगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए उस मधुर नादको, जो मुरलीमें अधर-रसके रूपमें अंदर गया है, फिर वही मुरलीके द्वारा नाना रूपोंमें सुशोभित होकर जगत्‌के जीवोंका कल्याण करनेमें प्रवृत्त होता है।

अनुराग जहाँ है, वहाँ मुरली विशेष भावोद्दीपनका साधन मानी गयी है। मुरलीके द्वारा ही सारे भाव उद्दीप्त होते हैं। जबतक मुरली नहीं बजती, भगवान्‌का वह मधुर निनाद सुननेमें नहीं आता, तबतक उद्दीपन विभावकी पूर्णता नहीं होती।

भगवान्‌के रस-प्रवाहके दो तरहके भाव होते हैं—एक होता है, परम ज्ञानका; दूसरा होता है परम प्रेमका। भगवान्‌के अन्तरके परम ज्ञान, उपदेश या तत्त्वको वे ब्रह्मनिष्ठ आचार्योंके श्रीमुखसे प्रवाहित करते हैं। दूसरा परम प्रेमरसका जो भाव है, उसे मुरली या मुरलीके समान ही किसी प्रेमीके श्रीमुखसे अथवा उसके जीवनके आचरणसे बहाते हैं। यह आता है वहींसे। जैसे मुरली सूनी है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी जगत्-प्रपञ्चसे, वाणीसे, इन्द्रियोंसे सर्वथा शून्य है। वह कहाँतक बोलेगा, उसके अंदर बोलनेकी कुछ वस्तु रही नहीं, किससे बोलेगा ? वाणीमें उसके अहंता रही नहीं। इसी प्रकार श्रीगोपांगनाएँ और मुरली—ये अन्तःसारशून्य हैं। अन्तःसारशून्यका अर्थ क्या ? अन्तरमें वे भगवान्‌को नहीं रखतीं—ऐसी बात नहीं है। वे केवल भगवान्‌के रसको ही रखती हैं, और सब वस्तुओंको निकाल चुकीं। इसीलिये इनका उपनाम शास्त्रोंमें आया है अकिंचन। अकिंचन दरिद्रको कहते हैं। उनकी यही महान् अकिंचनता भगवान्‌को उनके पास रहनेके लिये लालायित कर देती है। भागवतके एकादश स्कन्धमें आया है अकिंचन

भक्तोंका वर्णन। भगवान्‌ने वहाँ कहा है कि **अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः**'—इन भक्तोंकी चरण–धूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे–पीछे सदा चला करता हूँ। यह भगवान्‌की बात है। यह भक्तोंके शरीरका महत्त्व नहीं है, वह महत्त्व तो उनके अंदर जो भगवान्‌का रस भरा हुआ है, उसका है। भगवान्‌के रसकी वह घनीभूत मूर्ति है। मुरली भगवान्‌के रसकी मूर्ति है। इस मुरलीके द्वारा ही भगवान् अपने रसका प्रवाह बहाते हैं।

वंशीमें—वेणुमें नौ छिद्र हैं। इन नौ छिद्रोंमेंसे आठोंको श्रीश्यामसुन्दर अपनी अंगुलियोंद्वारा अवरुद्ध करते रहते हैं और एक छिद्रपर अपने श्रीमुखके पके हुए बिम्बाफलको भी विनिन्दित करनेवाले अरुण–अरुण ललाई लिये हुए सुकोमल अधरोंको लगाकर उसमें फूँक देते हैं, स्वर भरते हैं, अधर–सुधा भरते हैं। उनके अधरोंकी दिव्य अरुणज्योति लालिमायुक्त और प्रकाश परिपूर्ण है, वह वंशीके अंदर जाकर उसके मध्यभागको अरुणिम कर देती है। यह अरुणिमा—ललाई अंदर पहुँचती है फूँकके बहाने और अंदर पहुँचकर उसके मध्यभागको—वंशीके हृदयको अरुणिम कर देती है। भगवान्‌का अधरामृत वंशीके छिद्रोंको ढक नहीं पाता, वह अरुणिमा—फूत्कारमयी अरुणिमा नादामृतके रूपमें, ध्वनिके रूपमें, सुधाके रूपमें परिणत हो जाती है और नीचेके छिद्रद्वारा निकल जाती है। श्रीकृष्ण स्वयं सर्वाकर्षक हैं ही, इनका जो स्वरूप–सौन्दर्य है वह अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अनुपमेय है। भगवान्‌का स्वरूप–सौन्दर्य हमलोगोंका–सा रक्त–मांसजनित चमड़ीपर उभर जानेवाला कोई रंग–रूप नहीं है। यह समग्र चिन्मय है, भगवन्मय है। भगवान् उस रूप–राशिमें नित्य प्रकट हैं। यशोदाके यहाँ, देवकी–वसुदेवके यहाँ भगवान्‌का प्राकट्य होता है, आविर्भाव होता है, यह हमलोगोंका–सा जन्म नहीं है, यह अजन्माका जन्म है, इसीलिये यह दिव्य जन्म है।'

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्'

अजन्मा होते हुए ही भगवान् जन्म लेते हुए दिखायी देते हैं। अविनाशी रहते हुए ही उनका तिरोभाव–सा दिखता है और समस्त जगत्‌के, अनन्तके, सर्वभूतोंके महान् ईश्वर होते हुए भी वे शिशु बनकर विश्वोंके पराधीनकी भाँति रस–लीला सम्पन्न करते हैं।

भगवान्‌का रूप–सौन्दर्य अखिल–भुवनमोहन, असुर–मनमोहन है, स्वमन–मोहन है, मुनिमन–मोहन है, सुरमन–मोहन है। रामचरितमानसमें

भगवान् रामके रूपको देखकर खर-दूषण शत्रु होनेपर भी एक बार मोहित हो गये और कहने लगे—'हमने तो अबतक अपने लम्बे जीवनमें अगणित रूप देखे; पर ऐसा मनमोहन सौन्दर्य कहीं देखनेमें नहीं आया।' श्रीकृष्णके रूपसौन्दर्यको देखकर, भीष्म, वाल्मीकि, व्यास आदि ज्ञान-वृद्ध, वयोवृद्ध महापुरुष भी आकर्षित हो जाते थे। उनका नाम ही है—कृष्ण। 'कृष्ण' का अर्थ है—जो खींच ले, बरबस खींच ले।

भौतिक वस्तुओं, पदार्थों एवं रूपोंके साथ इसकी तुलना नहीं होती। भौतिक रूपमें वृद्धि-क्षय है। बचपनका रूप-सौन्दर्य क्रमशः विकसित होता हुआ तरुण-अवस्थामें पूर्णरूपसे परिणत होता है, फिर धीरे-धीरे उसका क्षय आरम्भ होता है, वृद्धावस्थामें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, तमाम अंग शिथिल हो जाते हैं, केश श्वेत हो जाते हैं, तन कुबड़ा हो जाता है, दाँत टूट जाते हैं, देखकर पहचाना नहीं जाता कि यह वही शिशु है, वही युवक है, जिसे हमने देखा था; परंतु भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यकी बात अलग है। उनका वय चाहे कालके हिसाबसे कितना ही अधिक हो जाय, परंतु आकृतिके हिसाबसे पंद्रह वर्षसे अधिक नहीं लगता। बिल्कुल कैशोर-अवस्था रहती है। लोग पूछा करते हैं कि 'चित्रमें भगवान्‌के मूँछ क्यों नहीं बनाते?' वे भगवान्‌के शरीरको हम-जैसा ही हाड़-मांसका पुतला समझते हैं, जैसे अंदरके विकार पुरुषके मूँछ-दाढ़ीके रूपमें एवं स्त्रियोंके रज-रूपमें निकलते हैं, इसी प्रकार भगवान्‌के भी निकलते होंगे। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। भगवान् नित्य पंद्रह वर्षके बने रहते हैं। वही सुकुमार अवस्था नित्य बनी रहती है। उस सुकुमार रूप-लावण्यकी यह विशेषता है कि वह उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, उसमें क्षय नहीं है। वह चन्द्रमाकी भाँति नित्य बढ़ता तो है लेकिन उसमें चन्द्रमा-जैसी पूर्णिमा नहीं होती; क्योंकि पूर्णिमाके बाद चन्द्र घटने लगता है।

उनका सौन्दर्य उत्तरोत्तर बढ़ता तो है, परंतु उसका अन्त नहीं आता। इसीलिये वह नित्य नव-सुन्दर हैं और नित्य नव-लावण्ययुक्त है। वे कभी बासी नहीं होते। एक बार, दस बार, सौ बार, लाख बार देखनेपर भी नेत्र अतृप्त ही रहते हैं, फिर उसे देखनेके लिये। सबसे आकर्षक श्रीकृष्ण स्वयं अपने अंदरके तमाम रसको अधरसुधामें भरकर उसे नादामृतके रूपमें प्रकट करके वंशीके द्वारा जब जगत्‌में फैलाते हैं, तब वह वंशीरव, वह मुरली-ध्वनि जहाँ-जहाँ पहुँचती है, एक विशेष प्रकारके माधुर्यका

संचार करती है। मुरली भगवान्‌के रसका उद्दीपन करनेवाली है। यह भगवान्‌के रसकी प्रसारिका है, विस्तार करनेवाली है। अतएव भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। अन्य लोगोंके छिद्र औरोंमें भी छिद्र करते हैं, अपने दोष दूसरोंमें फैलाते हैं; परंतु ये छिद्र भगवान्‌की वंशीके छिद्र हैं। ये दोषोंको लेते ही नहीं। ये तो केवल और केवल भगवान्‌के अधरामृतको, भगवान्‌के रसामृतको ही अपने अंदर भरते हैं। जिस छिद्रमें रस नहीं जाता उस छिद्रको भगवान्‌की अँगुली ढक देती है। यह भगवान्‌का बहुत बड़ा सौहार्द है। यह प्रगाढ़ प्रीतिका ज्ञापन करनेवाली वस्तु कितनी विलक्षण है कि एक छिद्रमें भगवान् अपना रस भर रहे हैं और दूसरे छिद्र किसी दूसरे रसको न ले लें, इसलिये स्वयं भगवान् अपनी अँगुलीसे उन छिद्रोंको ढक लेते हैं। पतिव्रताकी रक्षा हर तरह स्वामी ही करता है। मुरलीका पतिव्रत—सतीत्व तो भगवान्‌के रसको ग्रहण करके उसका वितरण करनेके लिये है। किसी दूसरे रसका उसमें समावेश न हो जाय, इसलिये भगवान्‌के अधरोंपर लगे हुए छिद्रके अतिरिक्त शेषके छिद्रोंको स्वयं भगवान् अपनी अँगुलियोंसे ढक देते हैं, उनमें दूसरेका प्रवेश निषिद्ध है। यह मुरलीके साथ भगवान्‌का बहुत बड़ी प्रगाढ़ प्रीतिका निदर्शन है।

मुरली—ध्वनि भगवान्‌ने क्यों की ? यह एक बड़ी विशेष बात है—वह है निष्काममें कामनाका उदय हो जाना। भगवान्‌में कामना नहीं है, पर शब्दोंमें कामना है ही। भगवान् नित्य निष्काम हैं, नित्य तृप्त हैं। भगवान्‌को कर्मकी अपेक्षा नहीं। भगवान् जब अर्जुनके मित्रके रूपमें बोलते हैं, तब तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' ही कहते हैं। पर जहाँ भगवान्‌का लोकसंग्रही, लोकनाथ, लोकोपकारी रूप है, वहाँ वही भगवान् गीतामें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
(३। २२–२३)

कर्म न होनेपर भी, कर्मकी अपेक्षा अथवा आवश्यकता न होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ भगवान् कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, कर्म करते हुए—से दीखते हैं और उनके कर्ममें कभी विराम नहीं दिखायी देता। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामें उनका एक-एक क्षण कर्ममें बीता है। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० भगवान्‌दासजीने

अंग्रेजीमें श्रीकृष्ण-सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने लिखा है—'ऐसा कोई सप्ताह नहीं, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण किसी युद्धमें प्रवृत्त न हुए हों। उनका जीवन सतत संघर्षमय है, परंतु राग-द्वेषरहित है।' महाभारतमें वर्णन आया है—'जब अश्वत्थामाके बाणोंसे विदग्ध होकर परीक्षित् उत्तराके गर्भमें मृत हो जाते हैं और मरा हुआ बच्चा पैदा होता है, तब उत्तरा, सुभद्रा एवं द्रौपदी सब रुदन करने लगतीं हैं। श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचकर आश्वासन देते हुए कहते हैं—यदि कंस और केशीको मारनेके समय मेरे मनमें राग-द्वेष न रहा हो तो यह मृत बच्चा जी उठे।' वास्तवमें यह उनके राग-द्वेषरहित होनेका कितना बड़ा उदाहरण है। भगवान् युद्ध करते हैं, कर्म करते हैं; जिस प्रकार कर्म करनेकी आवश्यकता न होनेपर भी कर्म करते हैं, उसी प्रकार प्रेमराज्यमें किसी वस्तुकी इनको स्वरूपतः आवश्यकता न होनेपर भी उस प्रेमरसास्वादनके लिये रसदान और रस-पानके लिये स्वयं लालायित बन जाते हैं।

यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है, यह जो भगवान्‌का लीला-कार्य होता है, यह न तो नाटक है, न केवल दिखानेकी वस्तु है न विकार है। यदि विकार होता तो भगवान् भगवान् नहीं रहते। विकार तो हम लोगोंमें होते हैं। यदि यह नाटक होता तो एकान्तमें नहीं होता, दर्शकोंके सामने होता। दामोदर-लीलामें चूल्हेपरसे दूध उतारनेके लिये जब मैया उन्हें गोदसे नीचे उतार देती हैं, तब पीछेसे उन्हें क्रोध आता है। उस क्रोधके मारे वे अपना होंठ काटते हैं। यहाँ कोई उन्हें देखनेवाला नहीं। यदि यह नाटक होता तो देखनेवाले की अपेक्षा होती। देखनेवाला नहीं है तो यह क्रोध है। क्रोध यदि भगवान्‌में है तो भगवान् भगवान् नहीं, तो क्या यह छल है ? अपने साथ जो छल करता है वह प्रेमी भगवान् कैसे ? वह तो कपटी है, छली है। यदि वह लोगोंको दिखानेके लिये प्रेमी बनता है तो दम्भी है। यदि यह न माया है, न कपट है, न दम्भ है, न विकार है तो क्या है ? यह भगवत्स्वरूप लीला है।

भगवान् ही क्रोध बनते हैं, भगवान् ही काम बनते हैं, भगवान् ही भोग बनते हैं, वे सचमुच ऐसा ही करते हैं। पर वे करते क्यों हैं ? यह तो सारी सृष्टि ही भगवान्‌से भरी है, निःसंदेह प्रत्येक प्राणी भगवान्‌का स्वरूप है; परंतु एक होता है, सृष्टिके नियमानुसार और एक होता है—विशेषरूपसे लीलामें। वैसे तो व्रजके सारे प्राणी भगवद्रूप ही थे, भगवान्‌में ही सारा विश्व

था, परंतु ब्रह्माजीद्वारा गोवत्सों और गोप-बालकोंके हरण किये जानेपर जो बछड़े और गोपबालक भगवान् बने, वे सीधे-के-सीधे बने। वहाँ सृष्टिके नियमवाली बात नहीं रही। इसीलिये बादमें ब्रह्माजीको उन सबमें भगवान्‌के दर्शन हुए। यों तो सारी सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है। पर इस लीलामें भगवत्स्वरूपता ही विशेष-विशेष लीलासामग्रियोंके रूपमें लीलायित है, होता है यह भगवान्‌का रूप ही। उसीमें काम भी है, क्रोध भी है, लोभ भी है, मोह भी है, भय भी है, बन्धन भी है, पलायन भी है एवं क्रन्दन भी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, बन्धन, पलायन तथा क्रन्दन—ये सभी भाव दामोदर-लीलामें आप एक-एक करके देख लीजिये।

जैसे यह भगवान्‌की लीला है, इसी प्रकार इस प्रेम-राज्यमें भगवान् स्वयं रसास्वादनके लिये सकाम बन जाते हैं। उन्हें भूख थोड़े ही लगती है और सुदामाके चिउड़ोंको खानेके लिये क्या भूखों मर रहे थे वे ? श्रीमद्भागवतका वर्णन है कि वहाँ गंदे कपड़ेमें बँधे फर्शपर पड़े चिउड़ोंको वे खा गये। उन्हें भगजन् चाहें न मानें पर राजराजेश्वर तो वे थे ही, द्वारिकाधीश थे। वहाँ किस वस्तुकी कमी उनके पास थी ? अभी-अभी वे भोजन करके आये थे; किंतु उस कपड़ेकी पोटलीको जब उन्होंने छीना, तब वह फटा चिथड़ा ही तो गया, उसमेंसे वे गंदे चिउड़ोंके तमाम दाने फर्शपर बिखर गये। वे पहले तो उनकी प्रशंसा करने लगे—'तुम कहते थे सुदामा ! कुछ नहीं लाये, यह तो वह वस्तु है, जो सारे विश्वको तृप्त कर सकती है। विश्वात्मा तृप्त हो जाय तो विश्व तृप्त हुए बिना कैसे रह सकता है ? यह कहकर वे खड़े-खड़े ही बटोरने लगे। हाथ धोये नहीं न तो नैवेद्यकी कोई थाली ही रखी गयी, न वेद-मन्त्रोंसे उसे पवित्र किया गया, अर्पण भी नहीं किया गया, प्रत्युत छिपाकर रखा था। उसे खड़े-खड़े आरोगने लगे वहींपर। गीताका यह श्लोक है और भागवत्‌में भी ज्यों-का-त्यों आया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(६। २६)

प्रेमसे—भक्तिसे सनी वस्तु खानेके लिये भगवान्‌को भूख लग जाती है। जैसे अकालपीड़ित भूखा आदमी अन्न देखकर टूट पड़े, वैसे ही चिउड़ोंके दानोंपर भगवान् टूट पड़े। खड़े-खड़े एक मुट्ठी फाँक गये। दूसरी

मुट्ठी जब भरने लगी, तब लक्ष्मीजीने हाथ पकड़ लिया। इन्हें भूख थोड़े ही थी, पर भूख थी। वहाँ झूठ, दम्भ अथवा माया थोड़े ही थी ? माया होती है जगत्‌को लुभानेके लिये। भक्तोंके सामने माया नहीं आती। तुलसीदासजीने बड़ा सुन्दर कहा है कि यह माया बिचारी नर्तकी है। यह भक्ति रानीके सामने नहीं ठहरती, भाग जाती है। जहाँ भक्ति है, जहाँ प्रेम है, वहाँ यह माया नहीं रहती। प्रेममें यह विशेषता है—गोपांगनाओंके, व्रजवासियोंके मुख्य वात्सल्य और मधुर रसका पान करनेके लिये स्वयं भगवान् अतृप्त, सकाम बन जाते हैं और उस रसकी आकांक्षा करते हैं। निराकांक्षामें दिव्य आकांक्षाओंका उदय हो जाना, निष्काममें दिव्य कामका प्रकट हो जाना, नित्य-तृप्तमें दिव्य अतृप्तिका उदय हो जाना—यह इस मधुर प्रेम-राज्यका ही चमत्कार है।

भगवान् स्वयं आकर्षक तो थे ही, फिर उन्होंने मुरली क्यों बजायी ? वस्तुतः आगे होनेवाली रासलीलाका यह नाट्यमञ्च तैयार होनेकी भूमिका है, पात्र बनाये जा रहे हैं।

पूर्वराग भगवान्‌के दिव्य साक्षात्कारका एवं उस परममधुर मिलनका पूर्वरूप है। श्रीगोपांगनाओंके मनमें पूर्वराग उत्पन्न कर देना, उनके अंदर रागको जगा देना यह भगवान् अपनी इच्छासे करते हैं। भगवान्‌में अपनी इच्छा कभी होती नहीं, भगवान् इच्छारहित हैं; पर भगवान् इच्छा बन जाते हैं। स्वरूपभूत इच्छाके द्वारा, स्वरूपभूत कामनाओंके द्वारा, भगवान्‌की ये दिव्य लीलाएँ हुआ करती हैं। भगवान्‌की वंशी बजती है तब क्या होता है ? कहते हैं, जहाँ—जहाँ वंशी-ध्वनि जाती है, उसका रव पहुँचता है, वहाँ—वहाँ परम अनिर्वचनीय, अचिन्त्य दिव्य विकार पैदा हो जाता है, यह प्राकृतिक विकार नहीं। प्रत्येक स्थावर—जंगम, घर—अचर जीव जिससे भी इस वंशी—ध्वनिका स्पर्श हो गया उसमें दिव्य विकार उत्पन्न न हो, ऐसा कोई वृन्दावनमें था ही नहीं, रहा ही नहीं।

श्रीकृष्णके वंशी—निनादसे सूखे पेड़ोंमें पत्ते उग गये। पेड़ोंको काट भी दिया था, तब भी काटे हुए शुष्क काठमें भी पल्लवोंका उद्गम हो गया। ध्वनि केवल कानका स्पर्श नहीं करती है, वह सब जगह जाकर टकराती है। यह मधुर ध्वनि जब उस वनकी शिलाओंसे जाकर टकरायी, तब शिलाएँ विगलित हो गयीं, बह चलीं। पशु—पक्षी इधर—उधर उड़ रहे थे, उनके कानोंमें वंशी—ध्वनिका स्पर्श हुआ तो वे मुग्ध होकर, चित्र—लिखितकी

भाँति निःस्पन्द होकर स्तब्ध हो गये—मानो वे मूर्ति हैं, जीवित नहीं हैं। यमुनाका जल स्तब्ध हो गया। विचित्रता यह थी कि वनके लोग अपने—आपको भूल गये। वनवासी चल पड़े लोकालयोंकी ओर—नगरोंकी ओर तथा नगरवासियोंकी गति हो गयी वनकी ओर। वंशीनादने सब कुछ भुला दिया। इस तरह विविध प्रकारके परम अद्भुत विकारोंका उदय हो गया। ये दिव्य विकार हैं।

ये विकार सबके भाग्यमें नहीं होते। हम दूसरे प्रकारके विकारी जीव हैं ही—क्रोधका, कामका, लोभका, मोहका, मानका, मदका, वैरका, हिंसाका विकार है और इनकी संतानोंकी तो कोई गिनती ही नहीं। न जाने कितनी संतानें इन विकारोंकी हैं। हम इन सबसे ग्रस्त हैं। हमलोग विकारी जगत्‌में रहते हैं। ये सारे विकार जहाँ नष्ट हो जाते हैं और मानव इन विकारोंकी सीमासे जब बाहर निकल जाता है, तब उसे भगवत्‌राज्यमें—प्रेमराज्यमें प्रवेश मिलता है, जहाँसे वंशी—ध्वनि सुनायी देती है। और वहाँ ये प्रेमके अद्‌भुत दिव्य विकार उत्पन्न होते हैं और सबमें परिलक्षित होते हैं। यों तो जब भगवान् चाहें तभी यह वंशी—ध्वनि सब जगह पहुँच सकती है।

कहते हैं, सर्वाकर्षक व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णने जब दिव्य परम पवित्र मनोहर लीला—भूमि वृन्दावनमें प्रवेश किया और प्रवेश करके जब वेणु—वादन किया, तब वेणु—नादसे मेघोंकी गति रुक गयी, संगीताचार्य गन्धर्व—श्रेष्ठ किन्नर भी चकाचौंधमें पड़ गये, चकित रह गये कि यह नाद कहाँसे आया! ब्रह्माजीके मानस पुत्र सनक—सनन्दन आदि नित्य—निरन्तर तत्त्वके ध्यानमें परिनिष्ठित रहते हैं, समाधिस्थ रहते हैं, जिनकी समाधि अचल, सुदृढ़, नित्य रहती है, वे भी तत्त्वध्यानसे विचलित हो गये। यही नहीं, स्वयं सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी इस वंशीनादको सुनकर विस्मयमें—आश्चर्यमें डूब गये। सुतलमें राजा बलिके हृदयमें इस आनन्दको जाननेकी बड़ी भारी उत्सुकता पैदा हो गयी। पृथ्वीको मस्तकपर धारण करनेवाले शेषनागका भी मस्तक हिलने लगा। उससे सारा विश्व ब्रह्माण्ड आलोडित होने लगा, नाचने लगा। तीनों भुवनोंमें वंशी—ध्वनिने व्याप्त होकर अपना मधुर प्रेमरस फैलाया, मधुर विकार पैदा किया।

यह वंशी—रव सर्वजन—मनोहर है—इसको विवेचन करते हुए कहते हैं—'इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।' (श्रीमद्भा० १०। २१। ६) यह वेणु—रव सहज स्वाभाविक ही मनोहर है। जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति

है. इसी प्रकार जड़–चेतन समस्त प्राणियोंके मनको हरण कर लेना इसका स्वाभाविक लक्षण है, गुण है। सर्वभूत–मनोहर होनेपर भी सबके ध्यानकी बात नहीं कही गयी। सबके सामने यह व्रजराज–स्वरूप प्रकट क्यों नहीं हुआ ? कहते हैं कि मुरलीके सर्वभूत मनोहर होनेपर भी श्रीकृष्णके साथ जिनका तत्त्वज्ञानका सम्बन्ध है, वे चाहे थोड़ी देरके लिये स्वाभाविक समाधिसे विचलित हो जायँ, पर उनमें कोई दूसरी भावना नहीं आती। भगवान्‌के साथ, श्यामसुन्दरके साथ जिनका जैसा, जितना निकटका या दूरका सम्बन्ध है, उसी प्रकार यह वंशी–रव उनके हृदयमें स्फुरित होता है और भावनाकी वृद्धि करता है। श्रीकृष्णके साथ जिन लोगोंका सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि सम्बन्ध नहीं है, उन्हें वंशी–ध्वनिकी, वंशी–रवकी केवल मधुरताको थोड़ी देरके लिये अपने–अपने भावानुसार थोड़ी—परंतु श्रीकृष्णके साथ जिनका सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि भावोंसे सम्बन्ध है तथा स्वयंको इन भावोंके साथ बाँध रखा है और उनको भी बाँध लिया है, यह वंशी–रव जब उनके कानोंमें जाता है, तब विशेष प्रकारकी अपरिसीम उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है, जो अन्योंमें नहीं होती। वे सभी एक नवीन विचित्र भावसे उन्मत्त हो जाते हैं।

उनमें भी जो मधुर–भावमयी परमानुरागमयी श्रीकृष्ण–दत्तचित्त व्रजरमणियाँ हैं, इनकी तो बात ही अलग है। ये पूर्वरागको तो पहले ही प्राप्त कर चुकी हैं। पूर्वरागके जो दस भेद होते हैं, उन्हींमें एक है—यह वंशी–ध्वनि। ये पूर्वरागजनित मिलनेच्छासे—महाभावसे भावित हो जायँ, इसमें आश्चर्यकी कौन–सी बात है ? वंशी–रव, वंशी–ध्वनि जब इनके कानोंमें पहुँची, तब उनका महाभाव–समुद्र उमड़ पड़ा। वे सर्वथा अपने–आपको भूल गयीं। अपने–आपको उन्होंने खो दिया। वंशी–ध्वनिने उनके अहंको सर्वथा विलुप्त कर दिया, छीन लिया, किंतु उनमें एक वस्तु जाग्रत् रही—श्रीकृष्ण–मिलन–वासना और उसकी प्रबल उत्कण्ठा। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इसीलिये वंशी–ध्वनिको सुननेमात्रसे उनके हृदयमें जो अव्यक्त और सुषुप्त–भाव थे, जो दीख नहीं रहे थे, वे सब भाव जाग गये। उनका बड़ा भारी भार हो गया। उस भारको हल्का करनेके लिये—भार–लाघवके लिये वे वंशी– ध्वनिके माधुर्यके सम्बन्धमें अपनी–अपनी सखियोंसे चर्चा करनेमें प्रवृत्त हुईं, किंतु उस वंशी–ध्वनिकी मधुरताके मनमें आते–न–आते उनके सामने, उनके हृदयमें वंशीधर मुरलीमनोहरकी मोहन मूर्ति प्रस्फुटित

हो गयी। वह नटवर—वपु सारे विश्वको, सारे जगत्को नचा देनेवाला था। अंग—अंग, आभूषण—आभूषण, वस्त्र—वस्त्र, रोम—रोम और जिस पथसे वे जा रहे हैं, उस पथकी भूमिका प्रत्येक रजःकण सभी नटवर—वपु बन गये हैं, नाचने लगे हैं। इस प्रकार वे मधुर—मनोहर नटवर—मूर्ति, रसिक—शेखर, नित्यनिकुञ्जेश्वर भगवान् प्रकट हो गये।

गोपियोंके श्रीमुखोंसे वाक्य निकलने बंद हो गये। कुछ देरके लिये तो उनके प्राण इस रसकी बाढ़में ही बहते रहे। वे आपसमें एक—दूसरेके मुँहकी ओर देखती—की—देखती रह गयीं। निर्वाक्, निस्तब्ध होकर भाव-सागरमें निमग्न हो गयीं, डूब गयीं। कुछ समयके बाद जब भावोंके वेगमें शिथिलता आयी, तब किसी प्रकार धैर्य धारणकर वे अनुरागमयी प्रेममयी श्रीव्रजांगनाएँ, जो बोल नहीं रही थीं, फिर बोलने लगीं। वंशी—रवकी, वंशी—ध्वनिकी मधुरताका वर्णन करनेमें जब वे प्रवृत्त हुईं और कुछ कहने लगीं, तब फिर भाव आ गया कि किससे कह रही हैं, कहीं वे श्यामसुन्दर ही तो नहीं हैं। सखी फिर भूल गयी और वह समीपवर्ती, सामनेवाली सखीको कृष्ण समझने लगी। उन्हींका आलिंगन करने लगी। अर्थात् हठात् श्रीकृष्ण—मिलनानन्द—सिन्धुमें फिर डूब गयी। भाव—तरंगें उठीं और वह समुद्रकी उन तरंगोंमें बहने लगी। उसने तो नहीं कहा, परंतु सामनेवाली सखीने पूछ लिया, सखी! यह तुम क्या देख रही थी? तब वह बोली—सखी! मैं जो सोच रही थी, वही बात तुम बोल रही हो। हाँ, मेरे मनकी गुप्त बातका तुमको पता कैसे लग गया? इस प्रकार वह महान् दिव्य प्रणयके आवेशमें प्रेम—रसपूरित महासमुद्रमें निमग्न हो गयी। परस्पर एक—दूसरेका आलिंगन करती हुई परम आनन्दका उपभोग करने लगी। इस आनन्दकी तुलना संसारके किसी भी आनन्दसे नहीं हो सकती। इन प्रेमियोंकी भाषा बड़ी अटपटी होती है। वे तो कहते हैं कि अरबों—अरबों ब्रह्मानन्द भी इस आनन्दकी तुलना नहीं कर सकते हैं—

मुक्ति कहत है गोपाल सो, मेरी मुक्ति कराय।
व्रज रज उड़ि माथे चढ़े, मुक्ति मुक्त है जाय॥

यह बड़े विनोदका भाव है कि मुक्ति बेचारी मुक्त पुरुषोंके बन्धनमें रहती है न? सबके बन्धनको काटकर छुड़ा देनेवाली मुक्ति बेचारी स्वयं मुक्त पुरुषोंके साथ बँध जाती है। मुक्तिके कारण ही तो वे मुक्तिमान् हैं, मुक्तिवाले हैं। मुक्ति चाहती है कि उसे छुटकारा मिले। पद्मपुराण, पातालखण्डमें

कथा आयी है कि ब्रह्मविद्या बैठी तप कर रही थीं। जाबालि ऋषि उनके पाससे निकले तो उन्होंने देखा कि एक परम तेजोमयी महातपस्विनी देवीका प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। वे विचारने लगे—'ये देवी कौन हैं ? क्यों तप कर रही हैं?' फिर जाबालिने हाथ जोड़कर उनसे पूछा—'माँ ! आप कौन हैं?' तब वे बोलीं—'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' ऋषिने पूछा—'आप क्या करती हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'सारे जगत्के प्राणियोंके अज्ञानका आवरण भंग करके ब्रह्मका प्रकाश, ब्रह्मका साक्षात्कार करवाना मेरा काम है।' ऋषिने पुनः पूछा—'आप यहाँ कैसे बैठी हैं?' तब वे बोलीं—'मैं श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करनेके लिये तप कर रही हूँ। यह मुझे प्राप्त नहीं है।' बादमें जाबालिने उन ब्रह्मविद्यासे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली और मानसरोवरपर जाकर उन्होंने तप किया। आगे चलकर जाबालिने व्रजमें गोप-कन्या होकर जन्म लिया।

भूल यहींपर होती है कि हम लोग इस आनन्दकी तुलना भोगानन्दके साथ करने लगते हैं, इसे भोगानन्द मानने लगते हैं। भोगानन्दका नाश अथवा विषयोंसे विरक्ति तो अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही हो जाती है। ऐसा सम्भव नहीं है कि भाव-राज्यमें प्रवेश भी हो और जगत्के काम-क्रोधादि विकाररूप भोग-वासना भी बनी रहे। ऐसा माननेका अर्थ होगा कि सूर्यके उदय होनेपर भी रात बनी रहे। किंतु सूर्योदय होनेपर जैसे रात नहीं रहती, उसी प्रकार भगवत्प्रेममें ये भोग नहीं रहते—

जहाँ काम तँह राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै रवि-रजनी एक ठाम।।

इस प्रकार परम दिव्य परमानन्द उनपर छा गया। वे परमानन्दमें निमग्न हो गयीं और यह स्थिति कितनी देरतक रही, कह नहीं सकते। कुछ समयके बाद जब श्रीगोपांगनाएँ कुछ चेतनाको प्राप्त हुईं तब उन्होंने गीत प्रारम्भ किया—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।।

(श्रीमद्भा० १०। २१। ७)

श्रीशुकदेवजीने कहा कि सर्वजन-मनोहारिणी वह मुरली-ध्वनि सभीका मन हरती है। परंतु गोपांगनाओंमें कुछ विशेषता है। वे श्रीकृष्ण-समर्पित-चित्ता हैं। बहुत बार हमलोग इस प्रकारकी यह गलत

धारणा बना लेते हैं कि भगवान्‌के इस प्रेम-राज्यमें साधनाकी कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये जो मनमें आये सो किया जाय। यह बड़ी विपरीत धारणा है। श्रीगोपांगनाओंका प्रेम-राज्य साधनाके स्तरसे ऊपर उठा हुआ है। यह साधनाकी सिद्धिका परिपाक है। इसमें साधनाकी आवश्यकता उसी प्रकार नहीं है, जैसे कोई नावसे पार उतरा हुआ आदमी नाव छोड़ दे, जमीनपर चलने लगे। उसके देखा-देखी नावपर चढ़े हुए लोग बीच धारामें यदि नाव छोड़ दें तो क्या होगा? ठीक यही बात है, भगवानका प्रेम साधनाकी सिद्धिका अन्तिम सोपान है। साधना आरम्भ हुई नहीं और इस प्रेमकी प्राप्ति हो गयी—ऐसी बात नहीं है।

गोपियोंकी साधनाके विषयमें पद्मपुराणमें ऐसी कथाएँ आती हैं, जिन्हें सुनकर तो हमलोग डर जायँगे। वहाँ वर्णन आया है—दो-चार महीने नहीं, दो-चार वर्ष नहीं, पाँच-पाँच, सात-सात कल्पतक त्यागी ऋषियोंने तपस्या की थी। इतनी तपस्या करनेके बाद उन्हें गोपी बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह बिना साधनाके अपने-आप हँसी-खुशीमें प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है। हँसी-खुशीमें प्राप्त तो होती है, पर हँसी-खुशी होती है वह स्थिति प्राप्त होनेके बाद। उसके पहले बड़ी तीव्र साधना करनी पड़ती है। बड़ा तीव्र ताप सहना पड़ता है।

भगवान्‌की प्राप्तिका साधन क्या है? प्रेम-प्राप्तिका साधन क्या है? वह साधन है—ताप तथा विरह। साधकके चित्तको भगवान्‌को पाये बिना चैन नहीं। वह सारी वस्तुओंको भूल जाय, सब वस्तुएँ उसके जीवनसे निकल जायँ। कहीं भी न तो लुभानेवाली वस्तु रहे, न डरानेवाली। साधकके सामने उसे साधनपथसे गिरानेवाली दो वस्तुएँ आती हैं—एक लोभ और दूसरा भय। जब ध्रुव माताके उपदेशसे भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये जाने लगे, तब मार्गमें नारदजी मिले। नारदजीने कहा—'क्यों भाई! कहाँ जा रहे हो?' ध्रुवने उत्तर दिया—'राज्य पानेके लिये। पिताने अपमान करके गोदसे उतार दिया, मैं भी उत्तमके समान ही पुत्र था।' नारदजीने कहा—'चलो तुम मेरे साथ, तुम्हें राज्य दिलवा दूँगा।' ध्रुवने कहा—'नहीं, अब तो पद्मपलाश-लोचन भगवान्‌से ही मिलना है, भगवान्‌के ही दर्शन करने हैं।' तब नारदजीने भय दिखाया कि 'जंगलमें माँ बैठी है क्या? वहाँ जंगली पशु हैं और कई तरहके उपद्रव एवं बाधाएँ हैं।' ध्रुवने पूछा—परंतु वहाँ भगवान् हैं न?' नारदजीने

कहा—'भगवान् तो हैं ही।' इसपर ध्रुव बोले—'महाराज ! मैं तो वहीं जाऊँगा।' नारदजीने प्रलोभन दिया, भय दिखलाया, परंतु दृढ़ रहनेपर उसे मन्त्रोपदेश दिया।

श्रीरामचरितमानसको पढ़नेवाले लोग जानते हैं कि पार्वतीजी जब तप कर रही थीं, उस समय भगवान् शंकरने पार्वतीकी महिमाका विस्तार करनेके लिये सप्तर्षियोंको भेजा। यह कथा बहुत—से पुराणोंमें अलग—अलग ढंगसे कल्पभेदके कारण आती है। मानसकार कहते हैं—सप्तर्षियोंसे तपस्या—निरत देवीकी बातचीत होने लगी। सप्तर्षियोंने पूछा—'देवि ! तुम तप क्यों कर रही हो ?' उन्होंने उत्तर दिया—'भगवान् शंकरकी प्राप्तिके लिये।' तब सप्तर्षियोंने भय दिखाते हुए कहा—'अरे ! उस पागलको प्राप्त करना चाहती हो, जो भूतोंका स्वामी है, दिगम्बर है, कपड़ा उसके पास है नहीं, घर नहीं, मकान नहीं। गहनेकी तो बात ही अलग रही, जब घरमें जाय तब पहननेके लिये वस्त्र तो चाहिये? वह स्वयं नंगा रहता है, कुछ नहीं है उसके पास। वह व्याली है, साँप लपेटे रहता है, विभूति रमाये रहता है, उसमें है क्या ? और देखो, एक बेचारी स्त्रीको बहकाकर उसने उसके मैके भेजवा दिया और मरवा दिया। जिसे सहज एकाकी रहना पसंद है, घर—द्वार जिसके हैं नहीं, उसके यहाँ जाकर तुम क्या सुख पाओगी ?' इस प्रकार बड़ा भय दिखाया। विवाह करनेकी अभिलाषिणी कन्या जिसे चाहती हो उसीका भयावह रूप उसके सामने रखा जाय तो अपने—आप उसका मन उचटेगा। पार्वतीने कोई उत्तर नहीं दिया। तब सप्तर्षियोंने दूसरी बात कही—'देखो ! तुम्हारे लिये हमने एक वर सोचा है—वैकुण्ठाधिपति भगवान् विष्णु। उनका सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य—सारा—का—सारा अप्रतिम है। तुम कहो तो उनसे बातचीत की जाय।' तब पार्वती बोलीं—महाराज !

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।।

एक जन्मकी बात ही क्या है, करोड़ों—करोड़ों जन्म बीत जायँ तो भी पार्वतीकी टेक यही है, 'या तो शम्भुको (भगवान् शंकरको) वरूँगी, नहीं तो कुँवारी ही रहूँगी।' इसपर ऋषियोंने कहा—'यह क्यों ? यह तो तुमने अच्छा बताया।' इसपर पार्वतीने कहा—'बस, मेरी टेक यही है। महाराज ! आपसे विवाद कौन करे ?' साधकके लिये आया है कि साधक विवाद न करे 'वादो नावलम्ब्यः' 'बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च' (नारदभक्तिसूत्र

७४–७) विवादके बढ़नेकी सम्भावना रहती है, साधन छूट जाता है। अतः साधक हार मान ले। उसी प्रकार पार्वतीने शीघ्रतापूर्वक काम निबटानेके लिये कहा—ठीक है, मान लिया आपका कहना कि—'महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुनधाम।' महादेव दोषोंके घर हैं और आपके विष्णु भगवान् सर्वगुणसम्पन्न हैं; परंतु—**जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम**। प्रलोभन और भय साधकके सामने आया ही करते हैं। इस प्रलोभन और भयसे विजय प्राप्त करके अपनी अनन्य टेकमें जो आगे बढ़ता है वही साधक है।

श्रीगोपांगनाएँ यद्यपि साधना करती हुई नहीं दीख पड़ती थीं, तथापि उनकी साधना इतनी ऊँची है कि उसकी प्रशंसा भगवान्‌ने भी की। यदि बेसमझीसे हम उसका अनुकरण करने जायँ तो गिर जायँगे। उद्धवजीने कहा है—'**या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा।**' (श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

यह है उनकी साधनाका स्वरूप। उन्होंने सारे मोहका परित्याग कर दिया, त्यागका भी परित्याग कर दिया, धर्मके मोहका भी त्याग कर दिया। वे गोपांगनाएँ साधनरहित थीं, ऐसी बात नहीं है। वे साधनका फल प्राप्त कर चुकी थीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी बलवती आशा, बड़ी तीव्र तीक्ष्ण समुत्कण्ठा जिसमें जाग उठती है, उसका मन, उसकी वाणी, उसकी इन्द्रियाँ सब–के–सब भगवान्‌में हठात् जाकर रुक जाती हैं और उनका संस्पर्श करना चाहती हैं।

भाव–साधना

भाव साधनाके चार राज्य हैं—कर्म–राज्य, साधन–भाव–राज्य, ज्ञान–राज्य और उसके बाद सर्वोपरि है सिद्ध–भावराज्य। ये गोपांगनाएँ सिद्ध–भाव–राज्यमें पहुँची हुई थीं और पूर्ववर्ती तीनों स्तरोंको सिद्ध कर चुकी थीं। भगवान्‌को प्रियतम माननेपर उनके प्रेमको प्राप्त करनेकी इच्छाका उदय होता है। उस समय उसमें ये नौ अनुभाव प्रकट होते हैं—

(१) **शान्ति**—शान्तिका अर्थ है सहनशीलता तथा क्षमा। अर्थात् प्राकृत सुख–दुःखोंकी उपेक्षा करनेकी शक्ति साधकमें आ जाती है। सुख–दुःख, मान–अपमान, हानि–लाभ, जय–पराजय, निन्दा–स्तुति, जीवन–मृत्यु आदि लौकिक इष्टको सहन करनेकी उसमें शक्ति आ जाती है। इसका नाम है 'शान्ति'।

(२) **अव्यर्थकालत्व**—श्रीकृष्णके, भगवान्‌के, प्रियतमके श्रवण, चिन्तन, मनन एवं ध्यान आदिको छोड़कर जो समय जाता है, वह सब व्यर्थ है। साधकको भगवान्‌के प्रसंगको छोड़कर क्षणभरके लिये भी वृथा समय व्यतीत करना सहन नहीं होता। व्यर्थकी बात तो कौन करे ? **'नहीं सुहावे जगकी चर्चा एक दिलवरकी चर्चा सहती, ललितकिशोरी पार लगावे मायाकी सरिता बहती।'** घरवाले जब घरकी बात ललितकिशोरीजीसे करने लगे, तब पहले-पहले तो उन्हें यों कहके टाला कि यह भी नहीं चाहिये, वह भी नहीं चाहिये; परंतु जब घरवालोंने फिर भी माना नहीं तब बोले—'आप घर चले जाओ; क्योंकि मैं कमजोर आदमी हूँ, मायाकी नदी बह रही है, आपकी इन बातोंसे इस नदीमें कहीं बाढ़ आ गयी और मैं बह गया तो कठिनाई होगी। संसारकी चर्चा मुझे सुहाती नहीं, चर्चा करनी हो तो मेरे दिलवरकी, मेरे प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी, श्यामसुन्दरकी, भगवान्‌की चर्चा करो।' अव्यर्थकालत्वका अर्थ यह है कि जिसके जीवनका जरा-सा भी समय भगवान्‌के प्रसंगके बिना न बीतता हो। जिसका क्षण भगवान्‌के प्रसंगमें लगता है, वह है अव्यर्थकालत्व'।

(३) **विरक्ति**—अर्थात् संसार एवं लोक-परलोकके सारे भोगोंसे स्वाभाविक अनासक्ति और भगवद्-विषयमें अनुरक्ति। भगवान्‌को छोड़कर अन्य सारे विषयोंमें धर्म, सेवा—जैसे शुभ नाम हों तो भी यदि वे भगवान् श्रीकृष्णके संसर्गमें जरा भी बाधा डालनेवाले हों तो उनमें भी विरक्ति हो जाती है।

(४) **मान-शून्यता**—मानका विष तो सभीमें भरा है। छोटे-से-छोटेमें भी, सभीमें मानका जहर रहता है। साधनाका प्रारम्भ होनेपर यदि मान प्रिय लगने लगा तो साधनाको वह खा जायगा। जहाँ मान नहीं मिलेगा वहाँ द्वेष होगा। जहाँ मान मिलेगा वहाँ साधक समझेगा कि ये लोग तो मेरे प्रेमी हैं, भक्त हैं, सब सज्जन लोग हैं। यदि उसका मान न किया, तो बड़ा दुःख होगा और वह मानकी रक्षामें ही लग जायगा। साधक भगवान्‌को भूल जायगा। चैतन्य महाप्रभुने मान-शून्यता-लक्षणकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।

अपनेको राहमें पड़े हुए तिनकेसे भी छोटा समझे। वृक्षके समान सहनशील हो। काटनेवाले, जलानेवाले, छेदनेवालेका भी उपकार करे। जलकर-कटकर-छिदकर भी भला करे और उसे उपकार न समझे, उसमें

केवल सहनशीलता मात्र रहे। और 'अमानिना मानदेन'—'मानशून्यता' यह चौथा लक्षण याद रखियेगा। प्रेम—प्रेमकी बात बहुत कहते हैं, इस प्रकार सब प्रकारके द्वन्द्वोंमें, सुख—दुःखोंमें उसके सहन करनेकी सामर्थ्य है—शान्ति। भगवान्‌के संसर्गके बिना क्षणभर भी न बिताना है—अव्यर्थकालत्व। प्राकृत विषयोंसे चाहे वह लौकिक हो चाहे पारलौकिक उसमें आसक्त न होना है—विरक्ति। स्वयं अमानी रहकर दूसरोंको मान दे, यह है—मान—शून्यता।

( ) आशाबन्ध—भगवान्‌की कृपाकी नित्य आशा। यह लक्षण प्रकट होनेपर साधकको नित्य आशा बनी रहती है कि भगवान्‌की कृपा अवश्य फलित होगी। भगवान्‌की अनुकम्पाकी भलीभाँति प्रतीक्षा विश्वासपूर्वक करता रहे। भगवान्‌की कृपा है ही, प्राप्त होगी ही, भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही। जगत्‌से निराश रहना और भगवान्‌के प्रेममें पूरी आशा ही है—आशाबन्ध।

(६) समुत्कण्ठा—यह छठा अनुभाव है। साधक केवल आशा और विश्वासके भरोसे ही आलस्य करके न बैठ जाय, अपितु अपने हृदयमें भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेकी अदम्य लालसा उद्वेग पैदा कर दे। अपने मनको अशान्त कर दे, हृदयमें आग लगा दे—इस प्रकारकी समुत्कण्ठाका यह लक्षण प्रकट होनेपर भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेकी समुत्कण्ठा स्वाभाविकरूपसे उसके जीवनमें आ जाती है।

(७) नामगाने सदा रुचिः—प्रियतमका नाम बड़ा प्यारा लगे, इसे रुचि कहते हैं। चैतन्य महाप्रभुसे सनातनने पूछा—'साधना कैसी करनी चाहिये ? क्या करना चाहिये ?' बहुत—सी बातें बताकर अन्तमें चैतन्य महाप्रभुने कहा—**नामे रुचि जीवे दया वैष्णव सेवन या छाड़ा आर नाहि जानि सनातन**। आरम्भमें भगवान्‌के नामोंमें रुचि न होनेपर भी हठपूर्वक नाम लेना भी उत्तम है। किसी दुःखमें घृणासे भी अरे 'राम राम' कहे—तो यह भी उत्तम है। किसी भी प्रकार भगवान्‌के नामका जिह्वासे और मनसे संयोग हो जाय तो भी बड़ा उत्तम है। उसके आगे अभ्यास हो जाय, छूटे नहीं—यह उससे भी उत्तम है। फिर भी जबतक रुचि नहीं होती, तबतक स्वाद नहीं आता। मनुष्य भूख न लगनेपर भी खाता तो है ही; किंतु रुचि नहीं होती। अरुचिपूर्वक आनन्दके बिना ही लाभ समझकर खाता है; पर स्वाद नहीं आता, रस नहीं आता। महाप्रभुने 'नामगाने सदा रुचिः' कहकर नामके साथ गान शब्द और जोड़ दिया है। गानमें एक स्वाभाविक माधुर्य है, जो रुचिका उद्भावक है। पशु—पक्षी भी जब सुन्दर संगीत सुनते हैं तब उनका

भी चित्त आकर्षित हो जाता है। अमेरिका आदिमें गायोंका दूध बढ़ानेके लिये उनको संगीत सुनाया जाता है। संगीत यदि संसारके विषयोंकी वृद्धिमें सहायक होता है, तब तो बुरी वस्तु है। कला बड़ी अच्छी वस्तु है, पर वह कहीं विषयासक्तिमें ही लग जाय तो वही कला 'काल' बन जाती है। यही कला यदि भगवान्‌में लग जाय तो षोडश-कला-सम्पन्न भगवान्‌को प्रकट करा देती है। 'नामगाने सदा रुचिः'—नामको केवल आफतकी बला टालनेकी वस्तु समझकर, कितनी देर हुई, घड़ी देखकर आज तो बहुत देर हो गयी, अपनी संख्या पूरी करें, किसी तरहसे हो जाय। यह भी करना अच्छा है, इसका विरोध नहीं; परंतु नामका गान हो। एक-एक नाममें रस आवे, मधुरताकी प्राप्ति हो, नामका संगीत हो, नाम-गान हो और नामके गानेमें नित्य रुचि हो। नाम लेनेमात्रमें नहीं, नाम गानेमें सदा रुचि हो। नाम-जप भी बड़ा सुन्दर है, पर नाम गानेका अर्थ है—हृदय उसके साथ मिला हो, रसयुक्त नाम-जप हो, आनन्द आये। जीभको भी मनचाही वस्तु खानेको मिल जाय तो पेट भरता ही है, स्वाद भी आता है, बड़ी प्रसन्नता होती है कि मनचाही वस्तु मिल गयी।

प्रेमके साम्राज्यका यह नियम है कि जिसमें प्रेम होता है, उसकी स्मृति करानेवाली प्रत्येक वस्तु सुख-दायिनी होती है। कहीं प्रेमीकी फटी जूती दीख जाय और मालूम हो जाय कि यह उसकी है, तो सुख मिलता है। स्वाभाविक ही जहाँ शत्रुता होती है, मनमें दोष होता है, वहाँ उसका नाम लेते ही आग लग जाती है। भगवान्‌से जब मित्रता हो जाती है तब तो प्रियतमका नाम बड़ा प्रिय लगता है। उसमें बड़ी रुचि होती है! बड़ी रुचि होती है!! और उस रुचिका किसी प्रकारसे दमन नहीं किया जा सकता। जगत्‌की रुचिवाली वस्तुएँ खाते-खाते जब पेट भर जाता है, तब रुचि होनेपर भी अरुचि हो जाती है। व्यक्ति कहने लगता है कि मन्दाग्नि हो गयी, वस्तु तो बड़ी अच्छी थी, स्वाद भी बहुत लग रहा था, बड़ी रुचि थी, पर अधिक खा लेनेसे पेटमें अपच हो गया। रुचिकर वस्तु भी अरुचिकर हो गयी। परंतु प्रियतमका नाम कभी अरुचिकर नहीं होता। श्रीराधाजीने कहा कि 'करोड़ जिह्व कभी प्राप्त हो तो श्रीकृष्णके नामका कुछ आनन्द मिले!' एक जीभसे क्या आनन्द मिलेगा। प्रियतमका नाम गानेमें सदा रुचि रहे।

(८) **आसक्तिस्तद्‌गुणाख्याने**—साधकमें यह लक्षण प्रकट होनेपर अपने प्रियतमके, भगवान्‌के गुणगानमें आसक्ति हो जाती है। जैसे संसारमें

धन–लोलुप लोगोंके सामने धन–प्राप्तिकी कोई बात चले और जुआरियोंके सामने जुएकी बात चले। यद्यपि यह बुरी–से–बुरी वस्तु है, तथापि उसे सुननेमें, कहनेमें उन्हें बड़ा रस आता है।

एक कथा आती है, कहाँतक सत्य है, भगवान् जानें, पर है बड़े कामकी। जब भगवान् श्यामसुन्दर द्वारकामें आकर विराजने लगे, तब श्रीगोपांगनाओंकी तथा राधाके विषयकी बहुत बातें होतीं। उसे सुनकर पटरानियोंके मनमें उत्कण्ठा होती कि जरा वहाँकी लीला सुनें, परंतु सुनाये कौन? श्रीकृष्ण तो सुना नहीं सकते; क्योंकि बात चलते ही वे गद्‌गद हो जाते हैं। जिसने वहाँकी लीला देखी है, ऐसा सुनानेवाला और तो कोई है नहीं। एक दिन सब मासा रोहिणीके पीछे पड़ी। रोहिणीजीको निकुञ्जकी अन्तरंगता तो नहीं, परन्तु ऊपर–ऊपरकी लीला कुछ मालूम थी। अतः सब उनके पीछे पड़ीं—मैया ! आप बताइये।' रोहिणीजीने कहा कि 'हम बतावें तो सही, पर एक तो हम तुम्हारी माँके समान हैं और वह हमारा बेटा है। उसकी बात कहनेमें भी संकोच होता है। दूसरे कहीं वह आ जाय तो चर्चा तो बंद ही हो जायगी।' सखियोंने कहा—'इसका उपाय यह है कि सुभद्राजीको पहरेपर बैठा दिया जाय; क्योंकि सुभद्राजी तो उनकी बहन हैं।' फिर तो सुभद्राजीको बाहर द्वारपर पहरेपर बैठा दिया गया। वस्तुतः प्रेमियोंके द्वारा जहाँ प्रेम–चर्चा होती है, भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमविह्वल होकर वहाँ पहुँचना चाहते हैं। उनसे रहा नहीं जाता। जब यह प्रेम–चर्चा आरम्भ हुई, उस समय श्रीकृष्ण–बलदेव दरबारमें थे। वहाँ वे विह्वल हो गये। वहाँसे भागकर दोनों मैयाके द्वारपर आ गये। देखा सुभद्राजी द्वारपर बैठी हैं। बहनने कहा—'भैया ! रुक जाओ; क्योंकि माँकी आज्ञा है। माँने कहा है कि 'दोनों भाई, आवें तो उन्हें बाहर रोक देना।' अब बेचारे क्या करें ? अंदरकी बातोंके कारण पहले तो वे द्रवित हुए। द्रवित होकर उनकी एक देवताकी मूर्ति बनने लगी। उनकी देखा–देखी सुभद्रा भी द्रवित हो गयीं। वे भी पिघल गयीं। उनकी भी एक मूर्ति बनने लगी। इतनेमें नारदजी आ गये। नारदजीने कहा—'महाराज ! यह क्या हो रहा है।' ज्यों ही अंदर आवाज गयी कि नारदजी आ गये, त्यों ही चर्चा बंद हो गयी। इधर द्रवित होनेका काम भी बंद हो गया। जितने अंग बने थे, उतने ही बनकर रह गये। यही जगन्नाथजीका श्रीविग्रह है। वहाँ बलदेव हैं, श्रीकृष्ण हैं और बीचमें सुभद्राजी हैं। उनके जितने हाथ बने थे उतने बनकर रह गये, शेष नहीं बने। पैर भी जितने बने उतने ही बने। आँखें भी ठीक नहीं बनीं।

वे जड़वत् काष्ठकी तरह रह गये सो रह गये—ऐसा कहते हैं। कहनेका अभिप्राय यही है कि जब प्रेमी लोग आपसमें प्रेम-चर्चा करते हैं, तब वह भगवान्‌को बड़ी प्रिय लगती है और प्रेमियोंको परस्पर प्रेम-चर्चा यहाँतक प्रिय है कि उसमें यदि भगवान् भी बीचमें आ जायँ तो उनको भी वे नहीं आने देते। भागवतका श्लोक है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।

(११। १८। १३)

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि मर्त्यलोकके भोगोंकी तो कोई चर्चा ही नहीं, स्वर्ग भी मिलता हो तो उसकी भी कोई बात नहीं। अपुनर्भव—पुनः जन्म न हो, इस प्रकारका मोक्ष मिलता हो और दूसरी ओर भगवत्प्रेमियोंका संग एक लवमात्रके लिये मिले तो इन दोनोंकी तुलना नहीं। भगवच्चर्चाकथा बहुत होती है, पर भगवत्प्रेमीका जो संग होता है चाहे उसको भाषा न आती हो, बोलता ही न हो चाहे मौन व्याख्यान हो, उसका उसके अंगोंसे केवल भावकी धारा निकलती हो, भले वाणी न निकलती हो, उसकी कहीं तुलना नहीं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनकी बात है कि एक बार वे दक्षिणभारत गये। वहाँ एक स्थानपर उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मण बैठा हुआ गीताका पाठ कर रहा है और रो रहा है। वह ब्राह्मण पढ़ा-लिखा कम था और अशुद्ध पाठ कर रहा था। नित्यानन्दजी महाप्रभुके साथमें थे। उनके मनमें पाण्डित्यका विशेष गौरव था। महाप्रभु भी उच्चकोटिके पण्डित थे; पर इन्होंने अपना सारा पाण्डित्य भुला दिया था। नित्यानन्दजीको गृहस्थ बनना था; अतः इनका पाण्डित्य भूला नहीं था। वे महाप्रभुकी आज्ञासे संन्यासीसे पुनः गृहस्थ बने।

नित्यानन्दजीने उस पण्डितका पाठ सुना। पढ़े-लिखे लोगोंको व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध शब्द सहन नहीं होता। उन्होंने महाप्रभुसे कहा—'देखिये महाराज! वह अशुद्ध पाठ करता है, जरा उसे समझा दीजिये न!' महाप्रभुजीने कहा कि 'करता है तो करने दीजिये। आपका क्या लेता है?' पर वे माने नहीं और उन्होंने कहा—'अशुद्ध पाठ नहीं होना चाहिये।' महाप्रभुजीने कहा—'तब आप जाकर समझा दीजिये।' नित्यानन्दजीने जाकर ध्यानस्थ ब्राह्मण देवताको हिला-डुलाकर जगाया और कहा—'तुम क्या कर रहे हो?' उसने उत्तर दिया—'महाराज! मैं

पाठ कर रहा हूँ।' नित्यानन्दजीने कहा—'अशुद्ध पाठ क्यों करते हो?' ब्राह्मणने कहा—'महाराज! मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ।' नित्यानन्दजीने फिर पूछा—'तो रो क्यों रहे हो?' वह थोड़ी देर तो कुछ बोला नहीं, फिर कहने लगा—'महाराज! ये श्यामसुन्दर जो सामने कुरुक्षेत्रके मैदानमें अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं, इनकी भाव-भंगिमाको देख-देखकर मेरे आँसू बहने लगते हैं।'

नित्यानन्दजी बड़े भारी प्रेमी थे; परंतु भगवान्‌की लीला ऐसी थी कि उनकी समझमें उल्टी बात आयी। उन्होंने आकर महाप्रभुसे कहा—'महाराज! वह केवल अशुद्ध पाठ ही नहीं करता, दम्भी भी मालूम होता है। मैंने आँसूकी बात पूछी तो बोला कि कुरुक्षेत्रके मैदानमें मुझे भगवान् और अर्जुन दीख रहे हैं।' महाप्रभुने कहा—'दीखते होंगे।' नित्यानन्दजीने कहा—'महाराज! आप भी ऐसे ही भोले-भाले हैं।' महाप्रभुजीने कहा—'आप एक काम करें, जाकर ब्राह्मणके चरणोंका स्पर्श करें।' नित्यानन्दजीमें पाण्डित्य था; परंतु साथ-साथ अनुगतता—आज्ञाका पालन भी था। उन्होंने जाकर ब्राह्मणके चरणोंका स्पर्श किया। चरण-स्पर्श करते ही वह दृश्य उनके सामने भी जैसा-का-तैसा दीखने लगा। वे चकित हो गये। महाप्रभुने कहा कि 'असली पाठ तो ये ही करते हैं।'

प्रेमकी चर्चा तो बहुत लोग कर सकते हैं। शांकर वेदान्तकी परीक्षा लेनेवाले विद्वान् लोग वेदान्तकी किसी वस्तुको कहनेमें शेष नहीं रखते। क्या उनमें शंकराचार्यवाला ज्ञान आ गया? नाटकमें चैतन्य महाप्रभुका अभिनय करनेवाले चाहे अपने अभिनयसे रुला दें; परंतु वे चैतन्यमहाप्रभुके समान प्रेमी थोड़े ही हो गये। सिनेमामें भी प्रेमकी चर्चा बहुत होती है; उपन्यासकार भी प्रेमकी चर्चा बहुत करते हैं; कविलोग भी प्रेमपर कलम तोड़ देते हैं; परंतु 'भगवत्संगिसंगस्य' वह वस्तु कहाँ है? सूरदासजीमें जो वस्तु थी, वह अन्य कवियोंमें कहाँ है? तुलसीदासके श्रीराम तुलसीदासके ही हैं, दूसरोंके वे श्रीराम नहीं हैं। भगवत्प्रेमियोंके संग और प्रेम-चर्चामें दोनों तरहकी बातें होती हैं—सुननेवाले भी उत्कण्ठित रहते हैं और कहनेवालेका अलग महत्त्व है ही।

(६) 'प्रीतिस्तद्वसतिस्थले'—जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने लीलाएँ की, जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने निवास किया, उन-उन स्थलोंमें आत्यन्तिक प्रीति होना नवाँ लक्षण है। वहाँकी रजमें प्रीति, वहाँके वायुमण्डलमें प्रीति, वहाँके जलकणमें प्रीति, वहाँके पशु-पक्षियोंमें प्रीति होती है। वहाँकी प्रत्येक वस्तु

प्रेमको देनेकी सामर्थ्य रखती है। हमलोग लेते नहीं, इसलिये हमें प्रेम नहीं मिलता। यदि हम अपना हृदय प्रेम लेनेके लिये उन्मुक्त कर दें तो हमें प्रेम मिल सकता है।

दोषदर्शी लोग प्रायः कहते हैं कि वृन्दावनमें बहुत दोष आ गये। इसी प्रकार अयोध्यामें भी बहुत दोष आ गये। परंतु जो लोग दोष नहीं देखते, अपितु अयोध्याको श्रीरामकी अयोध्या, वृन्दावनको श्रीकृष्णका वृन्दावन देखते हैं, उन्हें आज भी वहाँके रज-कणमें श्रीराम और श्रीकृष्ण मिलते हैं। ये स्थल भगवत्-संगके द्वारा निर्मित होते हैं। यह सम्भव है कि उसके निर्माण होनेके पश्चात् वहाँके लोग दूसरे हो जायँ, बदल जायँ। पर प्रेमीलोग उस स्थानको पहचान लेते हैं। चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य—जैसे लोगोंने जा-जाकर वृन्दावनमें इन स्थानोंको देखा और जहाँ-जहाँपर भगवान्‌ने लीलाएँ की थीं, उन स्थलोंका जीर्णोद्धार किया, पुनः उनकी प्रतिष्ठा की। उन महापुरुषोंके भावलोकके सामने वे लीलाएँ पुनः प्रकट हो गयीं। उन्हें दिखायी दीं। इसी प्रकार कितनी ही बुराई कहीं हो जाय; पर यदि वहाँपर भगवत्प्रेमका कण भी वर्तमान है और उसे लेने योग्य हमारी चाह है, हृदय है तो वह मिलेगा, मिलेगा, मिले बिना रहेगा नहीं।

प्रेमीका—साधकका यह कर्तव्य होता है कि वह भगवान्‌के गुण-गान और गुण-श्रवणमें ही अपनी रति रखे।

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं।।

तुलसीदासजी कहते हैं कि 'भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी बात सुनूँगा नहीं, दूसरी बात कहूँगा नहीं और दूसरेको देखनेके लिये यदि आँखें जायँगी तो उन्हें रोक लूँगा तथा ईश्वर (श्रीराम) के सामने ही मस्तक झुकाऊँगा।'

'अक्षण्वतां फलमिदम्' की यह भूमिका है। आँखें उसीकी सफल हैं, जो दूसरी वस्तुको देखे नहीं।

श्यामके रंगमें रँगी हुई एक गोपी कहती है—

कानन दूसरौ नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगी यह डोरी।
बोलेहु दूसरौ नाम कढ़ै रसना मुख बाँधि हलाहल बोरी।।
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरी।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाँय, जो साँवरी छाड़ि निहारति गोरी।।

जो मायाके उज्ज्वल प्रकाशको तो देखे और इसके अंदर समाये

हुए कृष्णवर्ण घनश्यामको न देखे, उसकी आँखें फूटी हुई हैं। आँखोंका फल तो यही है कि वे बस, नित्य-निरन्तर प्रत्येक वस्तुमें सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा श्यामसुन्दरको देखा करें। जो जितना उन्हें देखेगा, उतना ही उसका अन्तर उज्ज्वल होता जायगा।

बलिहारी वा प्रेमकी गति न समझे कोय।
ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।।

यह साँवरा रंग ऐसा है कि इसमें डूबते चले जाओ। कालेमें डूबो तो उज्ज्वल हो जाओगे और सफेदमें डूबो तो काले हो जाओगे। यह जगत् बड़ा उज्ज्वल दिखायी देता है। भोग भी बड़े उज्ज्वल दीखते हैं; परंतु ये अन्तर्मलिन होते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।

(गीता १८। ३८)

जितने भोग-सुख हैं, इनके लिये भगवान्‌ने कहा है—भोगनेके समय तो ये प्रतीत होते हैं अमृतके समान—बड़े मीठे 'अमृतोपमम्'—पर 'परिणामे विषमिव'—परिणाममें जहरका काम करते हैं। ये भोग बाहरसे उज्ज्वल हैं, अंदरसे बड़े कुटिल—बड़े काले। अन्तर उज्ज्वल-शुद्ध होना चाहिये। बाहरके दिखावेमें शुद्धि नहीं। भोगोंमें, विषयोंमें उज्ज्वलताको देखना और भगवान्‌की श्यामतामें भरी जो परम नित्य उज्ज्वलता है उसे न देखना ठीक नहीं।

अपनी चर्चा चल रही थी—

शान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मान्यशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

—ये नौ साधन गोपियोंने पहले कर लिये थे। जब किसी जनमें भावका अंकुर पैदा होता है, तब उपर्युक्त नौ प्रकारके अनुभावोंके बाह्य लक्षणोंकी उसमें उत्पत्ति होती है। श्रीगोपांगनाएँ इन सारे साधनोंके फलरूप भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त कर चुकी हैं—यह पूर्वरागकी लीला है।

गोपियोंने परस्पर कहा—'सखियो! ये श्रीदाम-सुबलादि अपने समवयस्क गोप-बालकों से घिरे हुए और गायोंके झुंडको आगे करके नाना

प्रकारके मधुर संकेत करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें गायोंको ले जाते हैं। इन व्रजराजपुत्र श्रीकृष्ण और बलरामकी मुरली—सेवित और स्निग्ध कटाक्ष—समन्वित माधुरीको जिन नयनोंके द्वारा पी लिया गया है; जिन नेत्रोंने इस रूपमाधुरीका आस्वादन किया है बस, वे ही नयन सार्थक हैं। इसके सिवा नयनोंकी कोई सार्थकता नहीं।' गोपियोंने देखा नहीं कहा, पीया कहा।

हमलोगोंको जो आँखें मिली हैं, ये भोगोंको देखनेके लिये नहीं मिली हैं, कुमार्गमें ले जानेवाले पदार्थोंका दर्शन करनेके लिये नहीं मिली हैं। आँखें मिली हैं सुपथपर चलनेके लिये। आँखें ऐसे विषयोंको देखें, जो श्यामसुन्दरको, भगवान्‌को हमारे मनमें ला दें, जो विषय भगवान्‌से विमुख करें, उन्हें कभी न देखें।

साधनामें कहा गया है कि साधक अंधा, बहरा, गूँगा, लूला एवं लँगड़ा बन जाय।—ये पाँच प्रकारके साधनके नियम माने गये हैं। भगवान्‌के अतिरिक्त जगत्‌की वस्तुओंको देखनेमें अंधा बन जाय। भगवच्चर्चाके सिवा और चर्चा सुननेमें बहरा बन जाय। भगवान्‌की बातके सिवा और बात कहनेमें गूँगा बन जाय। भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त और विषय-सेवन करनेमें लूला बन जाय। भगवान्‌के स्थानोंके सिवा भोग-स्थानोंमें जानेमें लँगड़ा बन जाय। अर्थात् सभी इन्द्रियाँ केवल भगवानमें लगी रहें।

भगवान् जब आँखोंमें बस जाते हैं तब और कोई वस्तु सुहाती नहीं—'जिन आँखिनमें वह रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं फिर देखियै का।' श्रीगोपांगनाएँ जब एकान्तमें रहतीं, तब वे परस्पर अपने प्रियतम भगवान्‌की चर्चा करतीं। अन्य चर्चाका विषय उनके पास रहा ही नहीं। वही कहना और वही सुनना। दार्शनिक लोग दार्शनिक भाषामें ही बोलते हैं; परंतु ये गोपांगनाएँ अपने गाँवकी भाषामें कहने लगीं—'यह हमारा कन्हैया काला कैसे हो गया ? सब तो गोरे हैं, नन्दबाबा भी गोरे, यशोदा मैया भी गोरी, रोहिणी मैया भी गोरी, दाऊजी भी गोरे, उपनन्द-सनन्द सभी गोरे हैं। फिर यह कन्हैया ही काला क्यों ?' बुद्धिवादी लोग उसके लिये कुछ भी कहें, उनकी बातोंसे गोपियोंको कोई मतलब नहीं। वे कहनेवालोंकी बात न सुनती हैं और न इसकी परवाह ही करती हैं, न दूसरोंके अनुभवसे उन्हें कोई मतलब है। दूसरी सखीने उत्तर दिया—सीधी-सी तो बात है—

कजरारी अँखियानमें बसो रहत दिन-रात।

प्रीतम प्यारो है सखी ताते साँवर गात।।

हमारी काजलभरी आँखोंमें हमारा प्रियतम प्यारा निरन्तर बसता है, अतः काजल लग-लगकर वह काला हो गया। इसमें कौन आश्चर्यकी बात है ? वास्तवमें बात ऐसी ही है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'यो मां पश्यति सर्वत्र', 'वासुदेवः सर्वमिति'**—शास्त्रोंमें ये जो भगवान्‌के सिद्धान्त-वाक्य हैं, वे गोपियोंके केवल मनमें ही नहीं, आँखोंमें भी आ गये हैं। उनकी आँखोंने दूसरेको देखना बंद कर दिया, अर्थात् हमारी आँखोंकी पुतलीमें वही चीज दिखायी देती है, जो सामने होती है। गोपियाँ सर्वत्र श्यामसुन्दरके दर्शन करती हैं; अतः उनकी आँखोंकी पुतलीमें सदैव श्यामसुन्दर बसे रहते हैं। उद्धवजीने जब उनसे कहा कि तुमलोग मनमें दूसरेका ध्यान कर लिया करो, तब वे बोलीं कि मनमें जगह ही खाली नहीं है, फिर ध्यान कैसे करें ?—

चलत फिरत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात।।

चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते—सब समय स्वप्नमें भी वह श्यामसुन्दरकी मूर्ति क्षणभरके लिये किसी अवस्थामें भी इधर-उधर नहीं हटती। गोपियोंकी जादूभरी आँखोंके सामने जो भी आता है वह श्रीकृष्ण ही हो जाता है। मायाका यह संसार असत् है या वास्तवमें सब भगवान् है—यह बुद्धिका विचार है। वह बुद्धिके द्वारा भगवान्‌को सर्वत्र देखता है, परंतु गोपीकी जड़ इन्द्रिय आँख श्रीकृष्णको देखती, कान उन्हींको सुनते, त्वचा उन्हींका स्पर्श करती और जिह्वा उन्हींको चखती है।

यह बड़े दार्शनिक सिद्धान्तकी बात है कि गोपियोंकी आँखोंमें लगे काजलसे लग-लगकर श्यामसुन्दर काले हो गये। **'अक्षण्वतां फलमिदम्'** आँखवालोंकी आँखका यही फल है कि वे सर्वत्र आँखोंसे भगवान्‌को देखना आरम्भ कर दें।

हिय फाटहुँ फूटहुँ नयन जरउ सो तन केहि काम।
दरहिं जरहिं पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम।।

वे आँखें फूट जायँ जिन आँखोंसे भगवान् न दीखें, आँखें फूटनेपर संसारका कुछ दीखेगा ही नहीं, सब नष्ट हो जायगा। संसार तो नष्ट होनेवाला ही है, इसे पहलेसे ही नष्ट हुआ मान ले—**'अंतहि तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें।'** संसारकी ममता छोड़ दे। **'ममेति बन्धनः'** ममताको लेकर बन्धन होगा ही, दुःख होगा ही। सारी ममता भगवान्‌से जोड़

दे। जहाँ सम्पूर्ण ममता भगवान्‌से जुड़ी कि समता अपने-आप आ जायगी।

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार।।

भगवान्‌में अनन्य ममता हो और वह ममता प्रेम-मूलक हो, भोग-मूलक नहीं।

भगवान्‌का प्रेम मानव-जीवनका सबसे ऊँचा और सबसे श्रेष्ठ ध्येय है। भगवान्‌के स्वरूप-ज्ञानको प्राप्त करके भगवान्‌के प्रेममें अपने-आपको खो देना प्रेमका स्वरूप है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि-ज्ञानी ब्रह्मविद् परमहंसशिरोमणि भी भगवान्‌का प्रेम चाहते हैं। वे प्रेम-प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करते हैं। यह भगवत्प्रेम अनायास भगवत्कृपासे किसीको मिल जाय—यह बात अलग है। भगवत्कृपासे सब कुछ सम्भव है; परंतु प्रेममें सबसे पहली वस्तु है त्याग। संसारमें भी लौकिक त्याग किये बिना प्रेम नहीं मिलता। परस्पर भाई-भाईमें भी त्याग होगा तो प्रेम होगा। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ आनन्द होगा। जहाँ त्यागके बदलेमें ग्रहणकी चेष्टा होगी, छीना-झपटी होगी, वहाँ लड़ाई होगी। प्रेमके स्थानपर द्वेष होगा। भगवत्प्रेम तो उत्तम-से-उत्तम परम फलोंका फल है। अतएव उसके लिये परम त्यागकी आवश्यकता है। प्रेम त्यागके मार्गसे, समर्पणके मार्गसे स्वसुख-परित्यागपूर्वक प्रियतमसुखके मार्गसे विकसित होता है और नित्य-निरन्तर असीमताकी ओर जाता रहता है। इस प्रेम-राज्यमें प्रवेशके पूर्व ऊपर बताये नौ अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं।

श्रीगोपांगनाएँ केवल भावांकुरवाली प्रेमिका नहीं हैं। उनमें भगवान्‌के प्रेमका उदय हो गया है, वे भावस्वरूपा हैं। इन भावोंका जहाँ पूर्ण प्राकट्य है उसका नाम महाभाव है। महाभावरूपा श्रीराधाजी हैं। गोपीजन-समूह, जिसमें श्रीराधाजी मुख्य हैं, इस वंशी-निनादको सुनकर भावोन्मत्त हो जाता है। वे परस्पर कथोपकथन करती हैं, वंशीध्वनिका वर्णन करती हैं। इसीका नाम वेणुगीत है।

आँखका फल क्या है? वस्तुतः जितनी इन्द्रियाँ हमें मिली हैं, वे सभी भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधनके लिये मिली हैं; भोग या पापके लिये नहीं। इन इन्द्रियोंके द्वारा जब हम पाप करनेमें प्रवृत्त होते हैं, तब बेचारी इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियोंको लेकर आनेवाला जीवात्मा अंदर-ही-अंदर रोता है। रोनेका अर्थ यह है कि यह जीव ही अन्तःकरण-विशिष्ट होकर अन्तःकरणमें होनेवाले सारे विकारोंको अपनेमें समझता है। यह नित्य दुःखी रहता है।

कभी किसीने भी आजतक भोगोंके द्वारा सुख प्राप्त नहीं किया, न कर ही सकता है और न कर ही सकेगा। भोग 'दुःखयोनयः'—दुःखयोनि हैं, दुःखोत्पादनके क्षेत्र हैं, दुःखमय हैं, दुःखालय हैं। इनमें सुखकी प्रतीति और सुखकी आशा ही मोह है, यही माया है, यही अज्ञान है। इसीका नाश करना है। निरन्तर दुःखी रहता हुआ भी जीव भ्रमवश भोगोंमें सुखकी आस्था करके अज्ञानसे मन—इन्द्रियोंद्वारा अपनेको विषयोंमें लगाता है। आँख आदि इन्द्रियाँ भोगोंके लिये नहीं मिली हैं। इन सबका सदुपयोग है भगवान्‌के साथ जुड़ जानेमें। जब आँख इस प्रकारकी बन जाती है, तब कण—कणमें भगवान्‌का स्वरूप प्रकट हो जाता है और आँखें सर्वत्र भगवान्‌को ही देखती हैं—'जित देखौं तित स्यामम्मई है'। नेत्रवालोंके जीवनकी सार्थकता यही है।

श्रीगोपांगनाएँ परम प्रेमके भावसे विवश हैं, इसलिये नेत्रोंकी सार्थकता किसमें होती है, उसे व्यक्त करनेमें मानो असमर्थ होकर बस केवल 'अक्षण्वतामिदम्' यही सार्थकता है, इस प्रकारका संकेत करने लगीं। शुकदेवजीने 'इदम्' शब्दसे गोपांगनाओंकी प्रेम—परवशताका संकेत किया है।

भाव धैर्यके रूपमें परिणत होनेपर गोपांगनाएँ कहने लगीं—'सखी ! गायोंके पीछे—पीछे नाना प्रकारके संकेत और मधुर शब्द करते हुए श्यामसुन्दर वनमें प्रवेश करते हैं। उनके साथ अगणित समानवयः शीलवाले बालक हैं। उनसे वे घिरे हुए वनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। उन श्रीव्रजेन्द्रकुमार श्रीकृष्ण और बलरामकी मुख—माधुरी—वदन—माधुरीका जिन नयनोंने आस्वादन किया है, वे ही सार्थक हैं। जिन नयनोंको उस मुख—सौन्दर्य—माधुर्यके आस्वादनका सुअवसर नहीं मिला, उन नेत्रोंकी कोई सार्थकता नहीं। विधाताने उन नेत्रोंका सृजन व्यर्थ ही किया।

यहाँपर 'व्रजेशसुतयोः' कहा है। श्रीकृष्णगृहीत—मानसा गोपियाँ श्रीकृष्णकी बात कहते—कहते दोनोंकी बात कहने लगीं। प्रेमका स्वभाव ही है गोपनीयता। प्रेम खुलकर नाचता नहीं, कर्म खुलकर नाचता है। ज्ञानमें सारा नाच बंद हो जाता है। पर प्रेम नाचता है, बहुत नाचता है। निरन्तर नृत्य करता है। हृदयको आन्दोलित करता रहता है। यह सबको नचा देता है। प्रेम भगवान्‌के उच्छलित आनन्दका स्वरूप है। जो शान्तानन्द यहाँ गूढ़ानन्द—प्रशान्त है वह भगवान्‌का उच्छलितानन्द आनन्दमें निमग्न होकर नाचता है और सबको नचा देता है; परंतु इसमें गोपनीयता रहती है। छिपे—छिपे नाचना यह इसका स्वभाव होता है।

श्रीगोपांगनाएँ अपनी सखियोंसे ही वर्णन कर रही हैं। वे अपने मनके गुप्त भावोंका ज्ञापन करना कदापि नहीं चाहतीं; किंतु अपने मनकी बात अपनी अन्तरंग सखियोंसे कहती हैं। वे श्रीकृष्णके विषयमें स्पष्टरूपसे न कहकर श्रीकृष्णके साथ-साथ बलरामजीका नाम भी लेती हैं। गोपियोंके 'व्रजेशसुतयोः' कहनेपर शंका होती है कि नन्दबाबाने श्रीकृष्णको अपना पुत्र न होते हुए भी अपना पुत्र मान लिया था, अतः उनके लिये 'व्रजेश-सुत' कहना तो संगत मालूम होता है; पर बलरामजीको 'व्रजेश-सुत' क्यों कहा ? वस्तुतः व्रज गायोंके समूहका ही नाम है। नन्दव्रज अलग, भानुव्रज अलग—ये सब अलग-अलग व्रज थे। वसुदेवजीका भी अपना व्रज था। उनके भी अधिक गायें थीं। 'वासुदेव इति ख्यातिर्देशस्तिष्ठति भूतले'—हरिवंशपुराणमें ऐसा वर्णन आया है कि बलदेवजीके पिता वसुदेवजीके भी बहुत गौ-समृद्धि थी। अतएव उन्हें भी उस व्रजका स्वामी होनेके कारण 'व्रजेश' कहा करते थे। इस प्रकार वसुदेव-व्रज नाम भी था, अतएव उस व्रजका स्वामी होनेसे बलरामजीको 'व्रजेश-सुत' कहना शुकदेवजीके लिये कोई अयुक्त नहीं है। दूसरी बात यह भी थी कि पालनेवाला पिता होता है। नन्दबाबाने श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंको समान भावसे, समान स्नेहसे, समान वात्सल्यसे पाला था। जब नन्दबाबा अन्य गोपोंके साथ मथुरामें वसुदेवजीसे मिले तो वसुदेवजीने कहा—'भ्रातः सुतः कच्चिद्...तातं भवन्तम् ....।' भैया नन्दजी ! मेरा एक बेटा तुम्हारे यहाँ अपनी माँके साथ रहता है और तुम्हींने उसे पाला-पोसा है; अतएव तुम्हें ही वह पिता मानता है।' इस प्रकार बलदेवजीको व्रजेश-सुत कहना मिथ्या नहीं है।

श्रीकृष्णके प्रति अपने आन्तरिक भावको छिपाकर वे दोनोंके लिये कह रही हैं। आगे चलकर शुकदेवजीने इसका संकेत भी कर दिया है। महानुभाव आचार्योंने, भाष्यकारोंने, श्रीमद्भागवतके टीकाकारोंने इसे समझा है, देखा है। अंदरके भावोंको छिपाकर प्रियतम श्रीकृष्णके माधुर्यका ही वर्णन करनेमें प्रवृत्त श्रीगोपांगनाएँ श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंका वर्णन करने लगीं—'सखी ! ये दोनों व्रजेश-नन्दन बड़े सुन्दर और मधुर हैं। इनकी मुख-माधुरीका—इनकी वदन-माधुरीका जिन्होंने आस्वादन नहीं किया, उनके नेत्र सफल नहीं हैं। उनके मनमें नाना प्रकारके भावोंका वेग चल रहा था तथा नये-नये भावोंकी एवं नयी-नयी माधुरीकी उद्भावना तथा स्फूर्ति उनके मन और हृदयमें होने लगी। सखियाँ परस्पर चर्चा करने लगीं—'इनकी वदन-माधुरीके सम्बन्धमें

क्या कहा जाय। ये दोनों भाई जब गोचारणके लिये गोपबालकोंसे घिरकर वनमें प्रविष्ट होते हैं और पशुओंको आगे करके मधुर-मधुर स्वर और संकेत करते हुए गायोंके पीछे-पीछे चलते हैं, तब इनकी मोहिनी वंशीसे परिसेवित और स्निग्ध कटाक्षसे समन्वित वदन-माधुरीका आस्वादन जो कर पाते है, वास्तवमें उन्हींके नेत्र सफल हैं।' वर्णनका भाव यही है कि हृदयमें भावका उच्छ्वास आ जानेपर न मालूम यह क्या कर दे? अतः भावोच्छ्वास बाहर निकलनेसे कुछ हल्का हो जाय इसलिये वे इस प्रेम-चर्चामें प्रवृत्त हुईं। रसशास्त्रमें इसीका नाम है 'अवहित्था भाव' अर्थात् मनकी बातको छिपाकर भी अपनी बातको व्यक्त कर देना। इसी लिये आत्मगोपन करती हुई वे श्रीकृष्ण और बलदेव—दोनोंकी बातें कहने लगीं; किंतु उन्हें कहनी तो है एक ही बात—'वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टम्।' महाभाग्यवती व्रज-रमणियोंका भाव यही है। वंशी बजा रहे थे केवल श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण। बलदेवजीके तो हाथमें छोटा हलिया था, वंशी नहीं थी। शुकदेवजीने 'अनुपद' कहकर संकेत किया है कि समवयस्क गोपबालकोंके साथ उनसे घिरे हुए जो दोनों व्रजराजकुमार गोचारणके लिये जा रहे थे, उनमें जो पीछे-पीछे जा रहे थे उनके मोहन-वेणुविचुम्बित वदनका—अधरोंपर खेलती हुई मुरलीसे लाञ्छित मुख-सरोजका जिनके नेत्र-कमलोंने पान नहीं किया, वे नयन सार्थक नहीं। जिन्होंने पान किया, वे सार्थक हैं। भाग्यवती श्रीगोपियोंके अन्तरका भाव यही है। पर अन्तरका भाव छिपा रहे, श्रीकृष्णके लिये ही ये परमासक्त-मना हैं, यह प्रकट न होने पाये, इसलिये दोनोंके नाम लेती हैं। सच तो यह है कि श्रीव्रजरमणियोंके भावकी भाषाको समझनेके लिये इनकी कृपा ही अवलम्बन है। उनकी शरणागतिके बिना काम नहीं होता। उन व्रजरमणियोंकी—व्रजदेवियोंकी कृपासे ही उनके मनोंके भावोंका किसी-किसीके हृदयमें किसी अंशमें उदय होता है। विद्यासे, बुद्धिसे, बाह्य ज्ञान-युक्तियोंसे, तर्कसे अथवा वादसे इन भावोंका उदय नहीं होता। जो इन परम भाग्यवती, परम त्यागमयी, मुक्ति-भुक्ति-स्पृहारहित, स्वसुख-वाञ्छाकल्पनालेश-विहीन श्रीगोपांगनाओंके चरणोंकी शरण लेता है, उसीको उन पदरजकणसे उन भावोंकी प्राप्ति होती है। इन गोपांगनाओंकी पदरज उद्धवने चाही थी।

उद्धवजी चाहते हैं—मैं वृन्दावनमें कोई गुल्म, लता, औषधि बन जाऊँ, जिससे मेरे जड़-रूपमें रहनेपर भी इन गोपांगनाओंके चरणोंकी धूल

मुझपर पड़ती रहे।' इनकी चरणरेणुके प्रसादसे ही ये भाव मनमें उदय होते हैं। शुकदेवजी इस भावमें सिद्ध थे। उन्होंने इन भावोंको समझा। इसलिये यहाँ 'निपीतम्' कहा। 'निपीतम्' न कहकर 'दृष्टम्' कहते, देखा कहते तो क्या हानि ? अर्थात् वदन-माधुरीका आस्वादन या माधुर्यका रसपान जिन नेत्रोंके द्वारा होता है ऐसे नेत्र उन्हें नहीं मिलते, जिनका गोपीहृदय नहीं है और गोपीहृदय वे ही हैं, जिन्होंने सर्वत्याग कर दिया है। लोक, परलोक, धैर्य, कुल-शील, मान, सुख, सम्भोग, भोग, मोक्ष—सबका जिनके द्वारा परित्याग हो गया है। इस प्रकारका हृदय हुए बिना उस वदन-माधुरीरसका पान नहीं होता, देखना कहीं-कहीं हो जाता है। असुरोंने भी देखा भगवान्‌के अरुण-अरुण रक्तिम क्रोधयुक्त नेत्रोंको, कृतार्थ वे भी हुए। मुक्ति उनकी भी हुई; परंतु उनकी आँखोंने रसपान नहीं किया। बड़े-बड़े साधियोंने तथा ऋषियोंने भी देखा, पर उनकी आँखोंने वदन-माधुर्यका रसपान नहीं किया, आस्वादन नहीं किया। इस वदन-माधुरीका आस्वादन यहींपर गोपियोंके द्वारा हुआ, इसलिये शुकदेवजीने 'निपीतम्' कहा, 'दृष्टम्' नहीं कहा। 'दृष्टम्' कहनेसे गोपांगनाओंके प्रेमकी अवहेलना होती है। देखा तो बहुतोंने था, परंतु उसमें क्या विशेषता हुई ? गोपियोंने केवल देखा नहीं, रसास्वादन किया, आस्वादन किया उस रसका। गोपियाँ बोलीं—'सखी ! हमारे व्रजराजनन्दन अपने अनुरक्त प्रेमीजनोंके प्रति निरन्तर कटाक्षपात किया करते हैं। स्निग्ध कटाक्षपात, स्नेहभरा कटाक्ष, जिसके अंदर पवित्र, विमल रसकी धारा बहती है, जिसे देखते ही जीवन रसमय हो जाता है, सारे विरस, अरस, कुरसका अन्त हो जाता है। ये रस भगवान् हैं। उपनिषदमें भगवान्‌का वर्णन आया है 'रसो वै सः'—वही रस है। उनके अतिरिक्त जगत्‌के जो रस हैं, वे कुरस हैं, विरस हैं अथवा अरस हैं। रस है ही नहीं। रस मान लिया—यह भ्रम है। केवल मृगतृष्णा है। तप्त बालुकाराशिसे भरे मैदानमें कहीं जल नहीं है, रस नहीं है, पर हरिणोंकी टोली हवाके कारण बनी लहरोंको बालुकामें देखकर भ्रमवश उसे जल मानकर पीनेको दौड़ती है और तप्त बालुकामें जलकर दग्ध हो जाती है। इसी प्रकार अरसमें रसकी भावना हमलोग करते हैं। भोगमें सुख देखनेवाले लोग उसमें सुख न होनेपर भी सुख ढूँढ़ते हैं। यह अरसमें रसकी कल्पना है। जो सारे रसको सुखा देता है, रसका दाह करनेवाला होता है, वह विपरीत रस है। यही संसारके भोगोंमें परिव्याप्त है। जो जीवनको नीचे उतार दे, जीवनके स्तरको अधोगतिमें ले जाय,

जिसके द्वारा मानवका पतन हो जाय, वही कुत्सित रस है, कुरस है। कुरस, विरस, अरस——ये भगवद्रस नहीं हैं। रस—रूप भगवान्‌ही परम रस हैं। उनके नेत्रोंका कटाक्षपात ही उस निर्मल पवित्र दिव्य रसका प्रवाह बहाता है।

भगवान्‌की मुख—माधुरीका वर्णन करते हुए दो बातें कही हैं——वे वेणु—वादन—पटु हैं, उनके मुखपर अधरोंपर वेणु—वंशी—मुरली विराजित है। पवित्र वेणु—चिचुम्बित उनके अधर—पल्लव हैं तथा स्निग्ध कटाक्षपात—समन्वित उनका मुख—मण्डल है। इस प्रकारकी मुख—माधुरीको जिन लोगोंने देखा, उनके नेत्र सफल हैं। गोपांगनाएँ स्वभावसे ही लज्जा—संकोचवश परस्परमें मनकी बात कहती हुई भी नहीं कह पा रही हैं; परंतु उनकी भाव—भंगिमा तथा उनकी मुखाकृति उनके नेत्रोंकी और वाणीकी आकृतिसे छिपी बातोंको प्रकट कर रही हैं। मानो वे सब कहती हैं कि जिस वेणुगानका श्रवण किया है, अब तो उस वेणुवादनकारीके समीप ही जाना है। अब उन्हें लोक—परलोकसे कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार भावाविष्ट होकर सभी गोपियाँ परस्पर बातें करती हैं।

इन व्रजरमणियोंमें भी कई स्तर थे। जिनके रहस्यका ज्ञान वास्तवमें श्रीगोपांगनाओंकी कृपासे ही होता है। पर जिन प्रेमी महानुभावोंने ध्यान—नेत्रसे इन्हें देखा, देखकर लिखा, ऐसे महात्माओंके शब्द—संकेतोंको आधार बनाकर ही हमलोग भी बातचीत करते हैं। इन श्रीगोपांगनाओंमें श्रीराधा और श्रीचन्द्रावली तो मुखिया थीं। इनके अतिरिक्त जो गोपांगनाओंके समूह थे, उनमें कुछ सखियोंके अलग—अलग निकुञ्ज थे, जहाँ भगवान्‌का शुभागमन होता था। परमत्यागमयी कुछ सखी—मञ्जरियाँ भी थीं। इस प्रेममें त्याग ही आदर्श है। त्यागको भूलकर प्रेमकी बात करना विशुद्ध प्रेमका तिरस्कार करना है। कुछ श्रीगोपांगनाएँ श्रीराधा—माधवके लीलाविहारका ही सम्पादन करतीं और लीलाविहारमय श्रीराधा—माधवका दर्शन कर वे कोटि—कोटि गुणा अधिक आनन्द—लाभ करतीं। यही प्रेमका निदर्शन है। प्रेम दो प्रकारका है——'प्रेमका स्वाद मैं चखूँ और इस प्रेमका स्वाद दूसरोंको चखाकर मैं सुखी होऊँ।' जैसे संसारमें भी किसीके पास धन—दौलत है, ऐश्वर्य है तो इस ऐश्वर्यको मैं भोगूँ और इस ऐश्वर्यको दूसरोंको भोगते देखकर मैं सुखी होऊँ——ये सुखी होनेके दो ढग हैं। एकमें आत्मेन्द्रिय—सुखकी चाह है, दूसरेमें श्रीकृष्ण—सुख—याञ्छा है। किसीके द्वारा अपने सुखी होनेकी इच्छाका

नाम काम है तथा अपने सर्वस्व–समर्पणद्वारा प्रियतमको सुखी करनेकी जो इच्छा है––उसका नाम प्रेम है। प्रेम देता है, काम लेता है। इन व्रजांगनाओंमें सखी–मञ्जरियोंका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। वे राधा–माधवके सुख–सम्पादनमें राधा माधवकी अपेक्षा भी करोड़ों गुणा अधिक आनन्दका अनुभव करती हैं। महानुभावोंका कथन है कि राधा मानो श्रीकृष्णप्रेमकी कल्पलता है। श्रीराधा ही सर्वप्रधान हैं तथा सखी–मञ्जरियाँ पत्र–पुष्पादि हैं। ये निरन्तर श्रीराधा–कृष्णके सुख–सम्पादनका प्रयत्न करती रहती हैं। जब श्रीश्यामसुन्दर अपने प्रेमके द्वारा श्रीराधारूपिणी बेलिका सिंचन करते हैं, तब वह रस उस लतापर उत्पन्न पत्र–पुष्पोंमें अपने–आप पहुँच जाता है। श्रीराधाके सुखका अनुभव उनसे भी कहीं अधिक लताके पत्र–पुष्प स्थानीय सखी–मञ्जरियोंको होता है। एक पदमें उसका भाव यों है––

कृष्णप्रियतम राधारानी ही लीला–सुखमें सम्पन्न।
होता इससे ही उनके मन अतुल अमित अत्यन्त, आनन्द।।
नहीं चाहती लीला–सुख वे सखी–मंजरी कृष्णके संग।
इसी त्यागमें परम भावसे पूर्ण नित्य उनके सब अंग।।

सखी–मञ्जरीका अंग–अंग एवं प्रत्येक वृत्ति यही चाहती है कि श्रीकृष्णको सुख मिले। उनके चित्तकी कोई भी वृत्ति किसी काल, किसी क्षण अथवा किसी अंशमें भी निज–सुखकी वाञ्छा नहीं करती। स्वसुख–परित्याग ही गोपी–भावका मूल है।

कृष्ण–प्रेम–रसिका है राधा, सखी सब उसके पल्लव, फूल।
लीलामृतसे लता सींचते, जब हों कृष्ण परम अनुकूल।।
राधा लता प्राप्त करतीं तब दिव्यानन्द स्वयं स्वच्छन्द।
पातीं पत्र, पुष्प, मंजरियाँ उससे कोटि गुणा आनन्द।।

वस्तुतः त्याग ही गोपांगनाओंका परम धन है, त्यागके मूल्यपर ही श्रीकृष्णधन उन्हें प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्णसे मिलकर एवं उनका वंशीनाद सुनकर, श्रीकृष्णप्राणाधिका राधिका परमसुखी होती हैं। इसी उद्देश्यसे ये सखी–मञ्जरियाँ भी श्रीकृष्णकी वेणु–माधुरीका वर्णन करती हैं। राधिकाजी सोचती हैं कि श्रीकृष्णके वदन–माधुर्यका आस्वादनही वेणुकी सफलता है। सखी–मञ्जरियोंके भावको भी इसी श्लोकमें शुकदेवजीने छिपे–छिपे व्यक्त कर दिया है। श्रीमद्भागवतके प्रेमी टीकाकारोंने इसे देख–समझकर दूसरे

भावसे इसका अर्थ किया है।—'अक्षण्वतां फलमिदम्' इसमें राधाभाव और सखी—मञ्जरियोंके भावोंका भी संकेत है। श्रीकृष्णके वंशीनादको श्रवण करके श्रीराधिकाकी सखी—मञ्जरियोंने भी वहाँ श्रीराधा—माधवकी युगल—माधुरीका दर्शन करनेकी लालसासे अपनी सखी—मञ्जरियोंसे कहा—'सखी ! व्रजेशसुत श्रीकृष्ण और व्रजेश—सुता श्रीराधिकाजी जब परस्पर मिलित होकर परस्परके कैशोर—वयोचित वेश—रचना करते हैं, उस समय उनके मुखकी शोभा निराली होती है। मोहनके मुरली—परिचुम्बित और राधिकाके दृष्टि—कटाक्ष—परिसेवित तथा निज जनोंके प्रति स्निग्ध—दृष्टि—सम्वलित वदनकी शोभा जिन नेत्रोंने देखी है, वे धन्य हैं। पर सखी—मञ्जरियोंके लिये तो राधा—माधवकी सेवा ही उनका सुख है। श्रीकृष्ण और राधिका—माधव और राधा—व्रजेशसुत और व्रजेशसुता—इन दोनोंका जो सम्मिलित कैशोर—वयोचित वेश—रचना एवं लीला—विहार है, उसमें रत जो मुरली—सुधा—परिचुम्बित और स्निग्धकटाक्षपातसमन्वित मुख—कमल है, उसे जिन नेत्रोंने देखा, वे सफल हैं, शेष असफल हैं। यही नेत्रोंका फल है। ये गोपांगनाएँ केवल परम त्यागसे ही परम सुखका अनुभव करती हैं। इन पूर्वरागवती श्रीव्रजरमणियोंने ज्यों ही श्रीवंशी—नादको श्रवण किया त्यों ही ये भाव—विकाससे ग्रस्त हो गयीं और श्रीकृष्णके मिलनकी परमदिव्य पवित्रतम परमपावनी लालसासे संयुक्त हो गयीं तथा अपनी—अपनी सखियोंसे संकेतके द्वारा श्रीकृष्णकी मुरली—माधुरीका वर्णन करने लगीं। वे सभी वास्तवमें श्रीकृष्ण—गतप्राणा और श्रीकृष्णानुरागिणी हैं। उनके भाव अलग—अलग हैं और अपने—अपने भावोंके अनुसार ही उनमें श्रीकृष्णके दर्शनकी उत्कण्ठा—श्रीकृष्णके मिलनकी लालसा है। जैसे भावोंमें तारतम्य है, इसी प्रकार इस लालसामें भी तारतम्य है। असंख्य व्रज—रमणियोंके भावोंका वर्णन करनेका शुकदेवजीको यहाँ अवकाश नहीं उन्हें तो सात दिनोंमें सारा—का—सारा श्रीमद्भागवतका प्रसंग पूर्ण करना है। परीक्षित्‌के सामने तो वे संक्षेपमें संकेतसे ही सब कह देते हैं। रासपञ्चाध्यायीमें इन श्रीगोपांगनाओंके विभिन्न भावोंका कुछ संकेत स्पष्टरूपसे दिया गया है। श्रीकृष्ण—प्रेयसी सभी श्रीगोपांगनाएँ वास्तवमें भाव—समुद्र हैं। समुद्रमें कितनी प्रकारकी ऊँची—नीची तरंगें उठती हैं, उनकी कोई गणना नहीं कर सकता। जैसे समुद्रकी ऊँची—नीची, उछलती हुई, मन्दगतिसे चलती हुई लहरियोंकी कोई गणना नहीं, उसी प्रकार श्रीगोपांगनाओंके भावोंकी भी कोई गणना नहीं है। उनकी कृपासे जिसमें इन भावोंकी जितनी

स्फूर्ति हो जाती है, वही श्रेष्ठ है। श्रीकृष्णके माधुर्यरूपी रसके समुद्रमें इनका चित्त सदा ही निमग्न रहता है। वे सभी सदैव श्रीकृष्ण-स्मरण करती हैं। गोपियोंके भाव एवं उनके प्रेमका स्वरूप एक सूत्रमें—'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता' कहकर नारदजीने बताया है। वे श्रीश्यामसुन्दरके प्रति समर्पित हैं। केवल स्मरण ही उनके पास बचा है। कभी क्षणभरके लिये विस्मरण होता है तो उनको परम व्याकुलता होती है। वे नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णस्मरण, श्रीकृष्णध्यान, श्रीकृष्ण-गुण-लीला-चिन्तन, गुणलीला-आलापमें लगी रहती हैं, इसलिये यह उनके लिये कोई नयी बात नहीं है। गोपियोंने श्रीकृष्ण-बलरामको 'व्रजेशसुत' कहकर जो नाम लिया, उसमें भाव-गोपन करनेकी चेष्टा की, परंतु इसमें भी वेणुकी बात तो आ ही गयी। प्रेममें भाव-गोपन आवश्यक होता है, अतः उन्हें इस भावको भी छिपाना इष्ट है। गोपियाँ दोनों भाइयोंके सौन्दर्यका स्पष्ट वर्णन करती हैं, जिससे आत्मगोपन ठीक हो जाय।

गोपियों द्वारा भूमि-शोभा व मयूर-दशा वर्णन

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदरव्रजसुखायमुहन् गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ८-९)

गोपियाँ वेणु-माधुरी, वेश-सौन्दर्य तथा रूप-सौन्दर्यका वर्णन करनेके पूर्व वृन्दावनकी सुषमाका वर्णन करती हैं—

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १०)

गोपियाँ कहने लगीं—'सखी! इस वृन्दावनकी क्या महिमा कही जाय? यह वैकुण्ठादिकी अपेक्षा भी अधिक अपनी कीर्तिका विस्तार कर रहा है; क्योंकि इस वृन्दावनकी भूमिमें श्रीकृष्णके पदचिह्न अंकित हो गये हैं। इस भूमिपर जब स्वयं श्रीकृष्ण चलते हैं तब उनके चरणोंमें जो चिह्न हैं, वे अंकित हो जाते हैं। जो भगवान्‌के श्रीपदके चिह्नोंको भी अपने शरीरपर अंकित कर ले, उसके समान भाग्यवान् कौन है? भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके

वंशी–नादकी ध्वनि कानोंमें जाते ही ये वृन्दावनके मयूर प्रेम–आनन्दसे विह्वल हो जाते हैं और नाचने लगते हैं। ये बड़े सौभाग्यशाली हैं जो नित्य-निकुञ्जेश्वर अखिल–रसामृत–मूर्ति भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके मुरली–वादनके साथ–साथ नाचते हैं।

यहाँके समस्त वनवासी, पशु–पक्षी सभी प्राणी भी धन्य हैं, जो मुरलीकी तानपर मयूरको नाचते देखकर आनन्दसे स्तब्ध होकर जड़वत् हो जाते हैं तथा वहाँके गोवर्धनादि पहाड़ोंमें जाकर स्थित हो जाते हैं। वे सभी बड़े सौभाग्यशाली हैं। श्रीकृष्णके साथ जिनका किसी प्रकारसे कोई सम्बन्ध है, उन सबको श्रीगोपांगनाएँ परम भाग्यवान् मानती हैं। वे स्वयं अपनेको परम अभागिनी मानती हैं; क्योंकि वे इस समय श्रीकृष्णके अंग–संगसे रहित हैं। ज्यों ही यह मनमें आया कि वंशी श्रेष्ठ है, त्यों ही उनमें नाना प्रकारके भावोंका उन्मेष हुआ तथा भावावेशमें श्रीव्रजांगनाओंने वेणुके भाग्यका, वंशीके सौभाग्यका वर्णन किया। वे कहने लगीं कि कितना आदर करते हैं श्यामसुन्दर इस वंशीका, सदा अपने हाथमें धारण करते हैं, चलते हैं कहीं तब भी उसे हाथमें रखते हैं, अपने कर कमलोंके द्वारा निरन्तर इसे पकड़े रहते हैं, इससे अधिक सौभाग्य और क्या होगा ? जब कहीं भोजन करने बैठते हैं तो उसे बगलमें दबा लेते हैं या बगलबंदी पहने हुए रहते हैं तो अपनी छातीपर रख लेते हैं। जब सोते हैं तो टेंटमें अपने पेटके ऊपर खोंस लेते हैं। इस प्रकारका वेणुका अप्रतिम सौभाग्य है। वेणुके सौभाग्यके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती। हमारे लिये तो इस प्रकारके सौभाग्यकी सम्भावना करना ही असम्भव है। हम कुलवधू ठहरीं, अतः सब जगह जा नहीं सकतीं, रह नहीं सकतीं, मिल नहीं सकतीं। हमारा भाग्य तो इस प्रकारका है कि हम श्रीकृष्णके संगसे नित्य वञ्चित हैं, पर उनके हाथमें रहनेवाली वेणुकी तो बात ही क्या है ?

इस वन–भूमिका भी जब हम सौभाग्य देखती हैं तो हमारे मनमें इसके प्रति भी बड़ी श्रद्धा पैदा हो जाती है। यह श्रीश्यामसुन्दर रसिकशेखर, भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श प्राप्त करती है। मुरलीका सौभाग्य तो ऐसा है ही। इन्हें वनमें गायोंके पीछे चलना पड़ता है। सबको प्रेमदान, आनन्द–दान करनेका लीलामाधुर्य तो केवल व्रजमें ही है। राजा–महाराजाके यहाँ कहीं अवतार हुआ तो रथपर चलेंगे, पैदल कौन चलेगा? उस स्थितिमें नौकरोंकी, सेवकोंकी गोदमें रहेंगे, सिरपर रहेंगे, इन्हें जमीनपर भी कौन पैर रखने देगा ?

भूमि बेचारी रोती है कि भगवान् प्रकट भी होते हैं और हम उनके स्पर्शसुखसे वञ्चित रह जाती हैं, परंतु इस व्रजमें तो श्यामसुन्दर पैदल ही चलते हैं। यद्यपि वन-भूमि सर्वदा और सर्वथा अपने-आपको कोमलतर बनाये रखती है। कुश-कण्टक, काँटे-रोड़े जमीनमें कहींपर रहे नहीं। प्रकृति देवीने वन-भूमिको ऐसा सजा दिया है कि श्रीकृष्णका पैर जहाँ रखा जाय, वहीं ऐसा लगे कि यह परम कोमल मखमली गद्दा है। ऐसी भूमि बन गयी, परंतु भूमिमें कुश-कण्टक तो रहते ही हैं। रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गोपियोंने एक जगह यह कहकर बहुत दुःख प्रकट किया है।

भगवान्‌के सुखके लिये, प्रेमास्पदके सुखके लिये अपने सुखका सर्वथा परित्याग गोपीके रोम-रोममें बसा हुआ है। प्रत्येक चेष्टामें, प्रत्येक विचारमें, प्रत्येक वृत्तिमें यह वस्तु रहती है। गोपी कहती है कि आपके चरणोंका स्पर्श जब हमारा वक्षःस्थल प्राप्त करता है, तब सुखकी सीमा नहीं रहती; परंतु वह सुख हम चाहतीं नहीं। वह सुख हमें इस आशंकासे बड़ा दुःखद हो जाता है कि हमारा कठोर वक्षःस्थल आपके कोमल चरणोंमें अघात पहुँचाता होगा। कुश-काँटोंसे भरे वनमें ऐसे चरणकमल चलते हैं तो हमें बड़ा दुःख होता है। वृन्दावनकी भूमिमें श्यामसुन्दर केवल चलते ही नहीं हैं, उसमें पैदा हुई जगह-जगह तरह-तरहकी लाल, हरी, पीली, नीली मिट्टी—वह मृण्मयी धातु श्यामसुन्दरको बड़ी प्रिय लगती है। वे स्वयं अपने प्रिय सखाओंका जब शृंगार करने लगते हैं, तब सखा समझते हैं कि इनका शृंगार हम करें। वे वहाँकी मिट्टीको, धातुको, वृन्दावनकी रेणुको यमुनाजीका जल लाकर शिलाओंपर घिस लेते हैं और उन धातुओंके विचित्र रंगोंसे श्यामसुन्दरके तमाम अंगोंको चित्रित करते हैं, सजाते हैं। वन-भूमिका कितना बड़ा सौभाग्य है। वृन्दावनकी भूमि, जिसपर उनके चरण टिके, कितनी पवित्र है। वृन्दावनकी भूमिपर रथपर वे एक ही बार मथुरा जानेके लिये बैठे। रथपर एक ही बार सवार हुए तो वे चले ही गये। फिर कभी लौटे नहीं। वृन्दावनकी भूमिपर रथपर सवार होकर चलना वृन्दावनकी भूमिका तिरस्कार करना है। जब रथपर अक्रूरने उन्हें बैठा लिया तब श्यामसुन्दरने कहा—'अब इस भूमिपर पैर रखनेके अधिकारी हम नहीं रहे।' वे चले ही गये। वृन्दावनकी भूमिने भगवान्‌के चरणोंका प्रसाद प्राप्त करके शोभा और श्रीसम्पत्तिको प्राप्त कर लिया। श्रीशुकदेवजीने भी 'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि'—कहकर यही भाव व्यक्त किया है। गोपियाँ कहती हैं कि इस भूमिपर श्रीश्यामसुन्दरके चरण-चि अंकित हैं एवं

उनका स्पर्श इसे प्राप्त हुआ है, अतः यह धन्य है। हम कहीं इस वनकी भूमि बन जातीं तो बड़ा अच्छा रहता। हमपर भी, हमारे सारे वदनपर श्यामसुन्दरके चरण टिकते और हमारे वदन भी, हमारे अंग-अंग भी श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंसे अंकित होते तो बड़ा सौभाग्य होता। हम कृतार्थ हो जातीं। यह ठीक है, सारी पृथ्वीमें वृन्दावनकी भूमि सबकी शिरोमणि है। पद्मपुराणमें आता है—**त्रिलोक्यां पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं शुभम्**—तीनों लोकोंमें पृथ्वी धन्य है, जहाँ मंगलमय वृन्दावन है।

भगवान्‌का स्वभाव अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय है। परस्पर विरोधी गुण-सम्पन्नता इनका स्वभाव है। वे **'अणोरणीयान्महतो महीयान्'**—अणुसे अणु और महान्‌से महान् हैं। वृन्दाकनमें जब ये दैत्योंका दमन करते हैं, उस समय बड़े कठोर हो जाते हैं और यहीं वृन्दावनमें इनके माधुर्य और इनकी कोमलतापर सभी मुग्ध हैं। वृन्दावनमें जिस प्रकार इन्होंने वंशी-लीला आदि की, वैसी लीला अयोध्यामें भगवान् श्रीरामने नहींकी है; क्योंकि वे राजकुमार थे। वहाँकी मर्यादा दूसरी थी। श्रीकृष्ण तो वहाँ अहीरोंके—ग्वालोंके बालकोंके साथ खेलते थे। अयोध्यामें राजकुमार श्रीराम सखाओंके संग खेलें तब भी सखाओंके मनमें उनके प्रति ऐश्वर्यका भाव है। उन्हें लगता है कि ये राजकुमार हैं, कहीं इनका अनादर न हो जाय। हमारे साथी हैं, पर हैं तो राजकुमार। अतः वहाँ विशुद्ध माधुर्यका उदय नहीं होता है। वहाँ माधुर्य ऐश्वर्यमिश्रित है। जैसे वसुदेव-देवकीमें बड़ा माधुर्य है, वात्सल्य है, परंतु इसके साथ ऐश्वर्य मिश्रित है। वे स्तुति करते हैं, पर नन्द-यशोदाने कभी स्तुति नहीं की। वृन्दावनमें जिस प्रकार निर्बाध, स्वच्छन्द, अमर्यादित लीला हुई वैसी कहीं अन्यत्र नहीं हुई। सब जगह कोई-न-कोई मर्यादा, कोई-न-कोई सीमा, कोई-न-कोई अवधि लगी हुई है; परंतु वृन्दावनमें इस प्रकारका कोई बन्धन नहीं है कि इस प्रकार बैठे, इस प्रकार उठे, इस प्रकार करे। ऐसी निर्बाध लीला सबके साथ मिलकर और कहीं भी नहीं हुई। भगवान् श्रीरामने कभी छोटे-से बछड़ेकी पूँछ पकड़ी हो और बछड़ा उन्हें लेकर दौड़ा हो—यह नहीं किया। जब सेवकलोग साथ-साथ है, तब उन्हें जाने कैसे देते। श्रीराममें और श्रीकृष्णमें अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं; परंतु वृन्दावनकी लीला कुछ विचित्र है। श्रीश्यामसुन्दर मेढकोंके साथ फुदकने लगते, मोरोंकी बोली बोलने लगते, बंदरोंकी भाँति डालियोंपर कूदने लगते, ये सब लीलाएँ किसी दूसरे अवतारमें नहीं हुईं। श्रीकृष्णावतारमें

भी वृन्दावनमें रहनेतक ये सभी लीलाएँ हुईं। जब वे मथुरा चले गये, तब ये लीलाएँ बन्द हो गयीं। ये मधुरतम निर्बाध लीलाएँ वृन्दावनमें हुईं। यह वृन्दावन जिस पृथ्वीपर है, वह स्वर्गलोककी अपेक्षा, दिव्य लोकोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि दिव्य लोकोंमें भगवान्‌का यह व्यवहार नहीं होता। वैकुण्ठ या साकेतके भगवान् सर्वपूज्य हैं, इनका पूजनीय कोई नहीं। वेदों तथा उनकी ऋचाओंके द्वारा बड़े-बड़े ऋषि तथा बड़े-बड़े महात्मा इनका नित्य स्तवन किया करते हैं। बराबरीका दावा करनेवाला और डराने-धमकानेवाला वहाँ कोई नहीं है। इनके भयसे कुबेर, यम, वरुण, सूर्य, चन्द्र सभी जिनके नियमोंमें बँधे हुए तथा क्रियाशील हैं, वे किसीके भयसे आँसू बहाते हों, यह वृन्दावनके अतिरिक्त और कहीं नहीं हुआ। कहीं भी हाथमें छड़ी लेकर माँने नहीं धमकाया। कौसल्याने भी नहीं धमकाया; क्योंकि वहाँ श्रीरामने ऐसा आचरण ही नहीं किया। श्रीरामके आचरण ऐसे दिव्य तथा मर्यादित हैं कि वहाँ छड़ी लेनेकी आवश्यकता ही नहीं। यहाँ तो छड़ीसे मान जायँ तो बहुत हैं। जहाँपर रससागर लहराता है, वहाँ भगवान्‌का दिव्य स्वरूप नाचने लगता है, उछलने लगता है, अतः वहाँपर मर्यादा नहीं रहती। वृन्दावनकी यह भूमि पृथ्वीका सौभाग्य है। तीनों लोकोंमें पृथ्वी भाग्यवती है; क्योंकि पृथ्वीपर अवतार होते हैं। उस पृथ्वीपर सबसे भाग्यवान् वृन्दावन है; क्योंकि यहाँपर सबके साथ मिलकर भगवान्‌की स्वच्छन्द लीला हुई जो और कहीं नहीं हुई। वृन्दावनकी भूमिपर भगवान्‌के प्रति सखाओंका, माताओंका और प्रेयसियोंका जो भाव है वह अन्यत्र कहीं नहीं है। माता-पिता तो वसुदेव-देवकी भी हैं, पर नन्द-यशोदाका जो भाव है, वह वसुदेव-देवकीमें नहीं है। अर्जुन आदि भगवान्‌के सखा हैं और उद्धव भी सखा हैं। भगवान्‌के साथ इनका बड़ा सौहार्दका सम्बन्ध है, भगवान् इनका सम्मान भी करते हैं, सब कुछ होनेपर भी इस मधुर लीलामें बालकोंके साथ जिस सख्यका प्राकट्य हुआ वैसा वहाँ नहीं है। यद्यपि सभी पटरानियाँ भी साधारण नहीं हैं; क्योंकि इन्हें श्रीश्यामसुन्दरकी पट्टमहिषी, महलोंकी पटरानी होनेका सौभाग्य मिला, जो सामान्य बात नहीं है। वे सभी भगवत्स्वरूपा हैं, परम वन्दनीया हैं; परंतु वहाँ भी एक मर्यादा है, एक सुन्दर आदर्श है, जिसे प्रत्येक स्त्री सामने रख सकती है। यह सब होनेपर भी श्रीगोपांगनाओंका भाव बिल्कुल अलग है।

वृन्दावनमें दस-ग्यारह वर्षकी आयुतक जो भगवान्‌की लीलाएँ हुईं, वे सभी अन्यत्र सर्वथा असम्भव हैं। श्रीकृष्णावतारमें भी वृन्दावनके

अतिरिक्त और कहीं नहीं है। इसलिये भगवान्‌के चरण-चिह्नों द्वारा अंकित एवं स्पर्शित यह वृन्दावनकी भूमि धन्य है। सारी सौभाग्य-लक्ष्मी इसे सहज प्राप्त हैं। 'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्'—वृन्दावनकी इस भूमिने सारे विश्वमें अपना यश फैला दिया, अन्यथा वृन्दावनको कौन जानता था ? श्यामसुन्दरने वृन्दावनमें आकर इस प्रकारकी लीलाएँ कीं। अपने वक्षःस्थलपर वृन्दावनकी भूमिने उनके सारे लीला-नाट्यको सम्पन्न किया। वस्तुतः वृन्दावनकी भूमि भगवान्‌की लीलाकी रंगभूमि है। भगवान्‌का मधुरलीलामृत प्रवाह, जो वृन्दावनमें बहा, वह और कहीं नहीं बहा। वृन्दावनकी यह भूमि बड़ी पवित्र एवं श्लाघ्य है। स्वर्ग तथा वैकुण्ठ भी श्लाघ्य हैं, पर वृन्दावनमें भगवान् जैसे चरण-स्पर्श करते हैं, दौड़ते हैं, खेलते हैं, आपसमें कुश्ती लड़ते हैं, जमीनपर सो जाते हैं, वैसी वैकुण्ठकी दिव्य भूमिपर नहीं करते। वहाँ तो उनका सारा-का-सारा बहुत बड़ा वर्णन आता है; वैकुण्ठ तथा दिव्य लोकोंका जो वर्णन है उसके अनुसार भगवान्‌का जमीनपर पैर रखना ही नहीं होता। वहाँकी जमीन भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पानेके लिये तरसती है। व्रजमें भगवान् जूता भी नहीं पहनते। जब गाय चराने जाते हैं, तब उनके चरण अनावृत रहते हैं। यदि अनावृत चरण न हों तो उनके चरणचिह्नोंका अंकन कैसे हो ? बिना जूतीके नंगे पैर वृन्दावनकी भूमिपर चलते और खेलते हैं। गायों तथा पशु-पक्षियोंके पीछे दौड़ते हैं, इनके साथ-साथ दौड़ते हैं। इस अतुलनीय सौभाग्य-सम्पत्तिकी अधिकारिणी यह वृन्दावनकी भूमि है।

'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि'—कहनेमें शुकदेवजीका क्या भाव है, यह तो शुकदेवजी ही जानें; किंतु शास्त्रोंसे इस बातका अभिप्राय समझमें आ जाता है। बृहद्विष्णुपुराणका एक वचन है—**द्वे नामनी नन्दभार्यायाः यशोदा देवकीत्यपि**—नन्दपत्नीके दो नाम थे—यशोदा और देवकी। यहाँ देवकीसुत कहकर दोनों बातें संकेतसे शुकदेवजी महाराजने कह दीं। देवकीके यहाँ जो कंसके कारागारमें प्रकट हुए थे, वे भगवान् भी ये ही हैं और यशोदा मैयाके पुत्र भी ये ही हैं। शंका इस तरह होती है कि ये वसुदेवजीके पुत्र हैं, इस बातको तो गोपियाँ जानती नहीं थीं। अबतक नन्दबाबा भी नहीं जानते थे, यशोदा मैया भी नहीं जानती थीं। अबतक तो यही पता था कि ये हमारे पुत्र हैं। शुकदेवजीके कथनके सम्बन्धमें कुछ महानुभावोंका मत यह है कि भगवान्‌के अवतार एक ही दिन एक समय दो जगह हुए। एक ऐश्वर्यावतार हुआ तथा दूसरा माधुर्यावतार। ऐश्वर्यावतार

हुआ कंसके कारागारमें और माधुर्यावतार हुआ नन्दबाबाके घरमें यशोदा मैयाके यहाँ। दशम स्कन्धके पाँचवें अध्यायका पहला श्लोक इसका प्रमाण है। उसमें शुकदेवजीके वचन हैं 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'—इसका अर्थ यह है कि नन्दजीके आत्मज—अपना बेटा पैदा हुआ, जिसके उपलक्ष्यमें वहाँ परमोत्सव हुआ। नन्दजीने बड़े-बड़े दान किये, परंतु शुकदेवजी तो जानते थे कि यह देवकीका पुत्र है, वसुदेवका बेटा है, नन्दका नहीं है। तो आत्मज क्यों कहते ? ये कह देते कि भाई ! जिसे नन्दने अपना बेटा माना, उस वसुदेवके पुत्रके लिये उत्सव हुआ।' 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने'—नन्दके अपना बेटा उत्पन्न हुआ, यह बात कैसे कही? परंतु ऐसी बात होनी कोई आश्चर्य नहीं है। भगवान् सर्वसमर्थ हैं।

एक बार नारदजीके मनमें श्यामसुन्दरकी लीला देखनेका बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ। सोलह हजार रानियोंके पास वे कैसे रहते होंगे, चलो देख आयें। वे जा पहुँचे द्वारका। उन्होंने रुक्मिणीके महलमें भगवान्‌को भोजन करते देखकर उसी समय सत्यभामाके यहाँ देखा कि वे वहाँ भी खेल रहे हैं। नारदजीने भी अपने योगबलसे, अपनी सिद्धिसे, तपस्यासे सारी रानियोंके यहाँ एक ही समयमें जाकर देखा कि कहीं खेल रहे हैं, कहीं नहा रहे हैं, कहीं सो रहे हैं, कहीं कुछ कर रहे हैं। नारदजी सब समझ गये। भागवतके दशम स्कन्धके अन्तमें एक कथा आती है कि जनकपुरीके राजा बहुलाश्व थे, वहीं श्रुतदेव नामके एक ब्राह्मण थे। दोनोंने भगवान्‌को निमन्त्रण दिया कि आप हमारे यहाँ पधारें। भगवान् दोनोंके यहाँ गये। जब भगवान् नगरके द्वारपर पहुँचे तो दोनों मिले, राजा भी एवं ब्राह्मण भी। दोनोंने कहा—'महाराज ! हमारे यहाँ चलिये।' राजा बहुलाश्वने देखा कि भगवान् हमारे यहाँ चल रहे हैं और श्रुतदेवजीने भी देखा कि हमारे यहाँ चल रहे हैं। भगवान् दोनोंके यहाँ गये हैं, वही रथ, वही घोड़े, वही सब। जब योगी भी सिद्धिसे कालनिर्माण कर लेते हैं, युगनिर्माण कर लेते हैं, वस्तु निर्माण कर लेते हैं तो भगवान्‌के लिये दो जगह अवतरित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

वृन्दावनकी भूमिका सौभाग्य वर्णन करते-करते गोपियोंको वनके पशु-पक्षी दिखायी देने लगे, मयूर दीखने लगे। वंशीकी ध्वनिको सुनकर मानो दल-के-दल मयूर आ रहे हैं। वे परस्पर कहने लगीं—'सखी ! देखो तो सही, ये गाय चरानेके लिये गये और वहाँ लीलामय विचित्र खेल खेलने

लगे। क्रीडारसिक श्यामसुन्दर, रसिकशेखर व्रजराजनन्दनने वेणु बजायी तो दल-के-दल मयूरोंने आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया और अपनी-अपनी पूँछे फैलाकर उनके वंशी-गानके साथ-साथ ताल देकर नाचने लगे। जरा इस झाँकीका ध्यान कीजिये—बीचमें खड़े श्यामसुन्दर वंशी बजा रहे हैं, नटवर वेश है, कनेरके फूलको कानपर टाँगे हुए हैं, सिरपर जूड़ा बँधा है, उसमें मयूरके पंख खोंसे हुए हैं, पीत वस्त्र हैं। वनमाला, गुंजामाला झूल रही है। श्यामसुन्दर पैरपर पैर रखे अपने त्रिभंगललित स्वरूपमें खड़े हैं। उन्हें चारों ओरसे हजारों-हजारों मयूर घेरे हैं। प्रत्येक मयूरकी पूँछ फैली हुई कितनी सुन्दर लगती है। हजारों-हजारों मयूर चारों ओर खड़े होकर केवल पूँछ फैलाये देख ही नहीं रहे हैं; अपितु उनकी वंशीकी तानके साथ-साथ ताल देकर नाच रहे हैं। इन सबको नाचते देखकर श्रीगोपांगनाएँ बोलीं—'मयूर क्यों नाचे ?' एक कहने लगी कि श्रीकृष्ण एक तो स्वयंमेव आकर्षक हैं ही, दूसरे इनके वेणुनादमें भी इतना आकर्षण है जो सारे जीवोंको मोहित कर ले। एक उत्प्रेक्षा यह भी है कि मयूर मेघके प्रेमी होते हैं। श्यामसुन्दरका मेघ-वर्ण है—नव-नीरद-वर्ण है। मेघ जब मन्द-मन्द गर्जना करते हैं तो मयूर नाचते हैं। उन्हें श्यामसुन्दर मेघरूप दिखायी दिये और उनका वेणु-रव मेघोंकी मन्द मधुर गर्जनाके समान लगा। मेघप्रेमी और मेघकी गर्जनापर बादलके मृदु-मृदु बजनेपर नाचनेवाले मयूर स्वाभाविक वहाँ आ गये, परंतु इस मेघको देखकर वे बड़े चमत्कृत हुए। उन्हें लगा कि यह नवीन मेघ भिन्न प्रकारका है, जिसमें उस मेघकी अपेक्षा अनन्त-अनन्त-गुना अधिक आकर्षण है।

भगवान् शंकरके डमरूकी ध्वनि वेणु-रवसे ही निकली है। यह मूलनाद वेणुका ही है। वृन्दावनमें साक्षात् श्रीकृष्णके सामने स्वाभाविक रूपसे मयूरगण परम आनन्दमें नृत्य करने लगे। इनके नृत्यको देखकर वनके अन्य पशु-पक्षियोंमें भी मुरली बजनेपर प्रेमका विकार हो गया। वे अपने-आपेमें नहीं रहे। वेणुनाद जहाँतक पहुँचा, वहाँतक वृक्षोंसे रस झरने लगा। पशु-पक्षी जड़वत् हो गये। चेतन जड़ हो गये। जड़ चेतन हो गये। सब-के-सब पशु-पक्षी वेणुनादके साथ मयूरोंका नृत्य देखकर परमानन्दमें निर्वाक् एवं निस्पन्द हो गये। उनका हिलना-डुलना, बोलना बंद हो गया और वे सभी निकटवर्ती गोवर्धन पर्वतपर जाकर ध्यानस्थ हो गये। मुरलीके रवके साथ वे मानो मुरलीके गानको पीने लगे।

मुरलीके गान-रसमें मत्त पशु-पक्षियोंके कारण वनभूमिकी अपूर्व शोभा हुई, जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो बड़ा भारी नाट्यका दरबार हो रहा है। नाट्यके दरबारमें दो वस्तुएँ होती हैं—वाद्य और नृत्य। भगवान्‌का वंशी-निनाद या वंशी-वाद्य सारे वाद्योंका मूल है। श्यामसुन्दर जो चाहें, जैसी चाहें इसमेंसे राग निकालते हैं। ये सारे रस भगवान्‌में हैं। उनका अधरामृत, उनका ही अधररस वंशीमेंसे निकलता है। विभिन्न रसमय राग उसमेंसे निस्सृत हो रहे हैं। वंशी-वाद्य तथा मयूरोंका नृत्य और गान दोनों हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गान और नृत्यके इस दरबारमें वनके पशु-पक्षी और श्रीकृष्णके समवयस्क गोपबालक हैं। ये इस दरबारके सभासद् हैं। ये सभी नाट्यसभा—अधिवेशनमें खड़े होकर दर्शन कर रहे हैं। नाच-गानके दरबारमें कोई चुपचाप बैठकर सुननेवाला भी तो चाहिये। ये सभी एवं गायें भी मुग्ध होकर वहाँपर खड़ी हो गयीं और तृण चरना बंद कर दिया। साथके छोटे-छोटे बछड़ोंने भी दूध पीना बंद कर दिया। सब-के-सब आँख लगाये उस नृत्यको देख रहे हैं और गान सुन रहे हैं।

मयूरोंका बड़ा सुन्दर नृत्य होने लगा। नृत्यमें जब ठीक भावका प्राकट्य हो जाता है, तब नाचनेवाला अपनेको भूल जाता है। उस समय नाचनेकी भाव-भंगिमा स्वाभाविक होती है। नाचनेवालेके कपड़े अस्त-व्यस्त होने लगते हैं। मयूरोंकी पूँछके ही उनके कपड़े हैं। नाचते हुए मयूरोंके पिच्छ झर-झरकर गिरने लगे। जब किसी बजानेवालेपर नाचनेवाला रीझ जाता है, तब कुछ पुरस्कार दिया करता है; क्योंकि यदि वाद्य न बजे तो नाचनेवालेका नाच हो ही नहीं। बिना वाद्यके नाच नहीं होता। श्रीकृष्णके मुरली-वाद्यकी ध्वनि मयूरोंके नृत्यमें कारण है। मयूरोंने देखा कि श्रीकृष्णने हमपर बड़ा उपकार किया है, जो हमें अपनी नृत्यकला दिखानेका अवसर दिया है, अतः इस बजानेवालेको कुछ पुरस्कार मिलना चाहिये। मयूरोंने सोचा कि अपने पास कुछ धन-दौलत तो है नहीं, जिसे पुरस्कारमें दें। मयूरके पैर बड़े भद्दे तथा पिच्छ सबसे अधिक सुन्दर होते हैं। जब वे चँदोवा तानकर खड़े होते हैं, उस समय उनके पिच्छकी सतरंगी शोभाको देखकर लोग चकित हो जाते हैं। मयूरोंने विविध रंग-रञ्जित सुरञ्जित पिच्छ गिरा-गिराकर श्यामसुन्दरको प्रदान कर दिये। मयूरोंका उद्दाम नृत्य होने लगा। पिच्छ गिरने लगे।

भले और विशिष्ट लोगोंमें यह एक स्वाभाविक प्रथा है कि किसीकी

दी हुई वस्तुको सिर चढ़ा लेते हैं। उपहारमें मिली हुई वस्तु लेकर केवल रख ली तो उसका अपमान है। बड़े प्रेमसे, आदरसे, हृदयसे, स्नेहसे, अमृतसे सानकर दी हुई वस्तुको अपने गर्वमें लेकर यदि केवल रख लिया तो वह देनेवाला हतप्रभ हो जाता है एवं सोचने लगता है कि इतने प्रेमसे दिये हुए पुरस्कारका उचित आदर नहीं हुआ, परंतु श्रीकृष्णके समान आदर करनेवाला प्रेमी दूसरा है कौन? प्रेमका सारा-का-सारा पाठ इनसे ही पढ़नेमें आता है। श्यामसुन्दरने सोचा कि मयूरोंने जो हमें पारितोषिकके रूपमें पिच्छ दान दिये हैं, इन्हें तो सिर चढ़ाकर लेना चाहिये। एक बार सिर चढ़ाकर फिर उसे फेंक देना तो आदरका दिखावा मात्र है। यही सोचकर श्रीकृष्णने सदैवके लिये मयूर-पिच्छको सिरपर धारण कर लिया। उसी दिनसे श्रीकृष्ण मयूर-पिच्छको विशेष रूपसे धारण करने लगे। यद्यपि मैया तथा सखियाँ सजानेके लिये पहले भी मोर-पिच्छ लगा दिया करती थीं तथापि आज तो श्रीश्यामसुन्दरने स्वयं उसे पारितोषिक मानकर अपने मस्तकपर सदाके लिये धारण कर लिया। उसके धारण करते ही मयूरोंके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा; क्योंकि उनके पहनावेको इन्होंने स्वीकार कर लिया। ग्रहण करनेवालेकी अपेक्षा दाताकी प्रशंसा ही अधिक होती है। मनसे, प्रेमसे किसी वस्तुको देनेपर, यदि कोई आदर और प्रेमसे उसे स्वीकार करे, सिर चढ़ा ले, अपना मुकुट बना ले तो देनेवाला कृतार्थ हो जाता है। मयूरोंके आनन्दकी सीमा नहीं थी, वे स्वयंको कृतार्थ अनुभव करने लगे। भगवान्‌की इस उदारताको देखकर मयूरोंमें नृत्यकी भंगिमा और बढ़ने लगी। वे आनन्दमें भरकर नृत्य करने लगे। लीला एवं नृत्यको देखकर वनके स्थावर-जंगम सभी प्राणी मुग्ध हो गये। श्यामसुन्दर इतने ऊँचे और महान् होकर भी इनकी पूँछको सिरपर चढ़ा लेते हैं, उनकी इस उदारताको देखकर परम आनन्दका विस्तार हो गया।

श्रीकृष्ण-गतप्राणा कृष्णात्मिका भावमयी श्रीगोपांगनाओंके मनने अपने भाव-नेत्रोंसे वृन्दावनकी वन-भूमिकी शोभा और श्रीसौभाग्य-सम्पत्तिको देखा; पर तृप्त नहीं हुआ। जिससे मन भर जाय वह वस्तु होती है लौकिक—संसारकी। प्रकृतिकी बनी हुई कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो सदा सामने रहनेपर भी निरन्तर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक आनन्द देती रहे। ऐसी वस्तु है ही नहीं। मनोवाञ्छित वस्तु जबतक नहीं मिलती तबतक उत्कण्ठा बनी रहती है, मिलनेके बाद कुछ दिनोंतक उसके साथ आनन्दका

अनुभव होता है। पुरानी हो जानेपर सदा साथ रहनेसे उस वस्तुकी उपेक्षा हो जाती है, तब उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। प्रकृतिके वस्तुओंका यह स्वभाव है। भगवान्‌से सम्बन्धित वस्तुमें दिव्यता और नित्य-नवायमानता बनी रहती है। नित्य-नव-वर्धनशील प्रेमके समान भगवान्‌का सौन्दर्य-माधुर्य भी नित्य-नववर्धनशील है। उनकी लीलाके उपकरण भी नित्य शोभा-सम्पन्न हैं। व्रजांगनाओंने व्रजभूमिमें वृन्दावनकी शोभाको देखा और देखते-देखते वे तृप्त नहीं हुईं। पुनः पुनः देखने और सतत देखते रहनेकी लालसा बढ़ जानेपर वे परस्परमें कहने लगीं—'सखी! देखो न, हमारा जन्म तो विफल हो गया; क्योंकि हम तो घरके कैदखानेमें बंद हैं, अतः आनन्दका उपभोग कर नहीं सकतीं। सौभाग्य तो उनका है जो समीप खड़े रहकर उन नवनीलनीरद-वर्ण भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके अनुपम अतुलनीय सौन्दर्य-माधुर्यको नयनभर देखकर भी अतृप्त रहते हैं। हम तो यहाँ दूरसे भाव-नेत्रोंसे ही देख रही हैं। हम पासमें नहीं हैं, इस कारण न तो हम नेत्रभर कर उनके सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन कर सकती हैं और न पास खड़ी रहकर यह मुरली-रव सुन सकती हैं। भगवान्‌के सम्पर्कमें आये हुए वे जड़, पशु-पक्षी सभी महान् हैं। भगवान्‌के सम्पर्कसे रहित देवता, ऋषि-मुनि कहलानेवाले प्राणी भी वास्तवमें भाग्यहीन हैं। उनका संग नहीं करना चाहिये।

भगवान्‌के सम्पर्कसे रहित वस्तुका संग ही कुसंग है। जो भगवान्‌का स्मरण करा दे वह दुःख भी सुख है। गोपियाँ कहने लगीं—भगवान्‌के संगको प्राप्त करनेवाली मुरली, भगवान्‌के चरण-स्पर्शको प्राप्त करनेवाली यह वनभूमि, भगवान्‌के वेणु-निनादके गानपर तालसे नाचनेवाले ये मयूर तथा इन सबकी शोभाको देखकर निस्तब्ध और निस्पन्द होनेवाले पशु-पक्षी भी धन्य हैं। इनका स्मरण करनेके कारण हम भी धन्य हैं।

हरिणोंकी भक्ति

इसके पश्चात् गोपियोंने देखा कि वंशीकी ध्वनिको सुनकर हरिणियोंकी टोलियाँ हरिणोंको साथ लिये वहाँ आ रही हैं, दल-के-दल आ रही हैं। हरिणियाँ चारों ओरसे श्रीश्यामसुन्दरको घेरकर एकटक नेत्रोंसे देखने लगीं।

गोपियोंने कहा—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः।।

(श्रीमद्भा० १०। २१। १९)

विवेकरहित, मूढ—मूर्खा हरिणियाँ भी धन्य हैं; क्योंकि वे वेणु—नाद सुनते ही श्रीकृष्णके पास कृष्णसार मृगोंके साथ आ गयीं और वन—विहारके वेषमें सुसज्जित नन्दनन्दनकी ओर सतृष्ण प्रेम—दृष्टिसे अत्यन्त आदरपूर्वक देखने लगीं। जिनकी आँखें आन्तरिक आदर और प्रेमके साथ भगवान्‌की ओर लगें, वे चाहे पशु हों, मूढ हों अथवा वनवासी हों—आदरणीय हैं। हरिणियाँ श्रीकृष्णके सामने आ गयीं और कान लगाकर खड़ी हो गयीं। वे नेत्रोंसे उनके माधुर्य—रसका पान करने लग गयीं और कानोंसे मुरलीके द्वारा गान तथा भगवान्‌के संगीतरूपी अधर—रसका पान करने लगीं।

व्रजरमणियोंने हरिणियोंके सौभाग्यको सराहते हुए कहा—जिस वनभूमिमें श्यामसुन्दर विचरण करते हैं उनके चरणस्पर्शसे पवित्र बनी हुई भूमिमें रहनेका इन्हें सौभाग्य प्राप्त है, ये व्रजकी वृन्दावन—भूमिकी हरिणियाँ हैं। कोई राजमहलमें रहे, चाहे भोगोंमें सना रहे, उसका महत्त्व ही क्या है ? भगवान्‌की चरणरजका स्पर्श तो उसे प्राप्त हुआ नहीं। ये हरिणियाँ धन्य हैं, सौभाग्यशालिनी हैं, जो उस वनभूमिमें निवास करती हैं, कूदती—फाँदती हैं, जिस भूमिका अंक या हृदय भगवान्‌के चरण—स्पर्शसे पवित्र होता रहता है।

गायोंके चरानेके मिससे श्रीश्यामसुन्दर निरन्तर नित्यप्रति इनके वास—स्थानपर जाते हैं। भगवान् जिसके घरपर पहुँच जायँ, बिना बुलाये पहुँच जायँ और जंगलमें पहुँच जायँ, उसके सौभाग्यका क्या ठिकाना ? ये वन—देवियाँ हरिणियाँ जंगलोंमें रहती हैं, ये वनमें श्रीश्यामसुन्दरको निमन्त्रण देकर बुलातीं नहीं और इनके घरपर ऐसी कोई साज—सामग्री भी नहीं, जिससे वे इन्हें पूजकर संतुष्ट कर सकें इनका पूजन—सम्मान कर सकें। इनके योग्य कोई वस्तु दे सकें ऐसी भी नहीं हैं। न जाने किस जन्ममें इन्होंने कितना तप—पुण्य अथवा भगवान्‌की आराधना की है, जिसके फलस्वरूप प्रतिदिन श्यामसुन्दर इनके निवासस्थानपर वन—भूमिमें जाते हैं और जाकर इन्हें सुख देते हैं।

वे कहती हैं—ये मूढ पशु—जाति होनेसे स्वभावतः इनमें कोई विवेक नहीं है, पर आश्चर्य है एवं इनके सौभाग्यका बड़ा भारी निदर्शन है कि ये विवेकहीन होनेपर भी श्रीकृष्णके दर्शनसे वञ्चित नहीं हैं। दुःख तो यह है कि हमलोग मनुष्य—कुलमें जन्मीं, मनुष्यत्वके अनुरूप विवेक लिये हुए जन्मीं,

पर आज हम श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनसे वञ्चित हैं, घरोंमें बैठी हैं।

जिसकी बुद्धिकी सारे जगत्‌में धाक है, सारा विश्व नत-सिर होकर जिसका सम्मान करता है, सब प्रकारके जिसमें गुण हैं, विद्या है, बुद्धि है, विवेक है, सब कुछ है, जो सर्वमान्य भी है, ऐसा विवेकशाली पुरुष भी यदि श्रीकृष्णके सम्बन्धसे रहित है और दूसरा एक विवेकहीन है, पशु-जातीय है, सम्मान्य नहीं, सबके द्वारा उपेक्षित है, घृणित है, ऐसा भी यदि कोई जीव श्रीकृष्णके सम्पर्कसे संयुक्त है तो वह उस विवेकी पुरुषकी अपेक्षा करोड़ों गुना श्रेष्ठ है; क्योंकि उसने भगवान्‌के सम्पर्कको पाया और इसने भगवान्‌से हटानेवाली वस्तुओंसे सम्पर्क रखा। दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है।

गोपियाँ कहने लगीं कि जब हमारे व्रजनन्दन वनविहारोपयोगी विचित्र नटवर-वेषसे सुसज्जित होकर वनमें प्रवेश करते हैं तथा वनकी शोभासे अत्यन्त आह्लादित होकर प्रसन्नचित्त तथा प्रमुदित होकर मोहन-मुरली बजाते हैं, तब ये गायें और हरिणियाँ उनके उस वेणु-नादको श्रवण करके तृण चरना भूल जाती हैं। जिन हरिणियोंके पास उनके छोटे-छोटे बच्चे हैं, वे भी उन सबका पालन आदि कार्य भी भूलकर उन्हें छोड़ देती हैं। ये हठात् खिंची हुई-सी सब कुछ परित्याग करके बड़ी उतावली चालसे—द्रुतवेगसे श्रीनन्दनन्दनके उन भुवनमोहन रूप-माधुर्यको देखनेके लिये आकृष्ट हो जाती हैं। उस मधुर-रसका आस्वादन और मोहन-मुरली-नादका निकटसे श्रवण करनेके लिये ये दौड़ जाती हैं तथा वहाँ जाकर अपने नेत्रोंको उनके रूप-सौन्दर्यमें गड़ा देती हैं। उस समय हरिणियोंकी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो जाती हैं। वे निर्निमेष-नेत्रोंसे व्रजेन्द्रनन्दनके भुवनमोहन रूपमाधुर्यका दर्शन और मुरलीका श्रवण करके कृतार्थ होती हैं। वास्तवमें यह सौभाग्य उन्हींको मिलता है, जिन्होंने जन्म-जन्ममें भगवान्‌की उपासनाकी, भगवत्प्रेमियोंका संग किया, चाहे वे पशु भले ही हों, ये हरिणियाँ पूर्वजन्मार्जित पुण्यशालिनी हैं। उनके घरवाले भी तो 'सहकृष्णसारा:' कृष्णसार मृग हैं, जिन्हें वे साथ लेकर आयी हैं।

श्रीगोपांगनाओंका एक विचित्र संकेत है कि 'हमारे घरवाले ऐसे नहीं हैं। जिसके घरवाले, सम्बन्धी तथा आत्मीय ऐसे मिल जायँ जो भगवान्‌की ओर लगानेमें सहायक हों और बाधा तो दें ही नहीं, सहायता दें एवं संग चलनेको तैयार हों, यह बड़ा सौभाग्य है। घरमें कोई भी यदि भगवान्‌की

और लगनेवाला एक भी हो जाय तो वह अपने सारे कुलको तार देता है, विपरीत कुलको भी। एक प्रह्लादने अपने अत्याचारी पिताकी सद्गति की ही, साथ ही अपनी इक्कीस पीढ़ीको तार दिया। घरमें कुलमें एक भी भगवद्भक्त होनेपर सारे कुलके लिये आशाकी वस्तु बन जाता है। वास्तवमें सच्चे सुहृद् वे ही हैं जो भगवान्‌में लगा दें। अन्यथा वे सुहृद् मित्रके रूपमें वैरी हैं।

हरिणियोंके पति थे कृष्णसार मृग। यह नाम बड़ा ही सुन्दर है। वृन्दावनके ये हरिण संसारमें श्रीकृष्णको ही सार मानते थे और सारे संसारको निस्सार। वास्तवमें जो लोग—जो प्राणी इस प्रकारकी धारणा कर लें कि संसारमें श्रीकृष्ण ही सार हैं और सब निस्सार हैं, वे ही कृष्णसार हैं। हरिण भी कृष्णसार थे। अतः इन हरिणोंको साथ लेकर ये हरिणियाँ वहाँपर जा पहुँचीं। जब वृन्दावनके कृष्णसार हरिणोंने देखा कि उनकी पत्नियाँ कृष्णानुरागिणी हैं, श्रीकृष्णमें प्रेम करती हैं तो वे आनन्दके मारे अपने—आपको भूल गये। अपने घरमें भोगके स्थानपर भगवान्‌से प्रेम करनेवाली देवियोंको पाकर वे उनपर मुग्ध हो गये। हरिणियाँ जब श्रीकृष्णके दर्शनार्थ चलीं, तब इन्होंने भी उनका अनुगमन किया। वे भी साथ—साथ चल दिये।

सच तो यह है कि श्रीकृष्णसे प्रीति—लाभ करना ही मानव—जीवनकी सार्थकता है। जिन्हें श्रीकृष्णमें प्रीति रखनेवाले सम्बन्धी, पति मिल जाते हैं, उन्हींका जीवनकी सार्थकता है। जिनके पति कृष्ण—भक्त हैं, वे रमणियाँ, वे देवियाँ धन्य हैं। जिनके पुत्र श्रीकृष्ण—भक्त हैं, वे माताएँ धन्य है। जिनके मित्र श्रीकृष्ण—भक्त हैं, वे मित्र धन्य हैं। जिनके शिष्य श्रीकृष्ण—भक्त हैं, वे गुरु धन्य हैं। जिस देशमें श्रीकृष्ण—भक्त हैं वे देश धन्य है। जिस ग्रन्थके द्वारा श्रीकृष्ण—भक्तिकी उपलब्धि होती हो, वह ग्रन्थ धन्य है। शेष तो सब—के—सब अधन्य हैं; क्योंकि ये नरकोंमें ले जाते हैं 'अंजन कहा आँखि जेहि फूटै..... जैसे आँखको फोड़ देनेवाला सुरमा किसी कामका नहीं, इसी प्रकार—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ।।'

इसी प्रकार श्रीकृष्णके भक्त कृष्णसार मृग कृष्णानुरागिणी अपनी पत्नियोंको श्रीकृष्णकी ओर जाते देखकर आनन्दमें उत्फुल्ल हो गये। इन लोगोंका भी मन नाचने लगा। इन्होंने भी उन्हें उत्साहित किया, आगे—आगे वे दौड़ीं, पीछे—पीछे ये दौड़े, परंतु उन्हें पकड़नेके लिये नहीं, अपितु उत्सुकतापूर्वक

और आगे बढ़ा देनेके लिये। उन्हें देखकर व्रजांगनाएँ कहती हैं कि मनुष्य न होकर यदि हम व्रजमें ऐसी हरिणियाँ हो जातीं तो हम कृतार्थ हो जातीं।' इस प्रकार श्रीकृष्णानुरागवती श्रीव्रजांगनाएँ हरिणियोंकी श्लाघा करती हुई श्रीकृष्णदर्शनार्थ एवं श्रीकृष्ण-संगकी प्राप्तिके लिये व्याकुल होने लगीं। जो भी, जिस-किसी भावसे भी श्रीकृष्णका संग प्राप्त कर रहे हैं या करते हैं, बस, उन्हींको गोपियाँ भाग्यवान् मानती हैं। उनके भाग्यका वर्णन करनेके व्याजसे वे उनके सौभाग्यका मंगलमय व्याख्यान करनेके साथ-साथ यही प्रकट कर रही हैं कि उनके हृदयमें अत्यन्त प्रबलरूपसे श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसा उत्पन्न हो गयी है और उसका किसी प्रकारसे वे दमन नहीं कर सकतीं। इसलिये उनका हृदय खोज-खोजकर उनके सामने भाव रखता है और वे उन भावोंमें मस्त होकर उनकी प्रशंसाके बहाने उनके सौभाग्यके व्याजसे अपनी मनोदशाका चिन्तन परस्पर कर रही हैं।

देव-वधुओंकी दशा

व्रजरमणियाँ बोलीं--

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। १२)

जिस समय यह मुरली बजी, भगवान्‌का वेणुनाद हुआ, उस समय सभीको अपने-अपने भावानुसार रसकी प्राप्ति हुई, यह भुवनमें व्याप्त हो गया। यह वेणु-रव त्रिभुवनमें फैल गया और फैलकर जहाँ-जहाँ जिस-जिस भावके लोग थे, उन्हें-उन्हें उसी प्रकारसे प्रेरणा दी। पहले वर्णन आया है कि ब्रह्माजीकी समाधि लग गयी, तपस्वियोंकी समाधि भंग हो गयी आदि। यह वेणुनाद स्वर्गलोक तथा दिव्यलोकोंमें जा पहुँचा।

भगवान्‌की लीलाका दर्शन देवताओंके लिये बड़ा दुर्लभ है। देवलोकमें भगवान् ऐश्वर्यमय-स्वरूपसे रहते हैं। देवलोकमें कभी माधुर्यका प्रकाश नहीं होता। इसलिये मधुर लीला देखनेके लिये देवता नित्य तरसा करते हैं। देवताओंको मधुर लीला नहीं दिखायी देती। ऐश्वर्यका स्वरूप तो वे रात-दिन देखते हैं, स्तवन भी करते हैं, परंतु जब-जब भगवान्‌के मधुर-मनोहर अवतार होते हैं, उनका प्राकट्य होता है, उस समय बहुतसे देवता भगवान्‌की

आज्ञाका सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं। उनसे भगवान् ही कह देते हैं कि तुमलोग तथा देवांगनाएँ हमारी लीला-भूमिमें सब लीला-परिकरके रूपमें प्रकट होकर अपनी-अपनी भूमिका निभाओ। जिन्हें ये सौभाग्य नहीं मिलता, वे भी वेष बदल-बदलकर, रूप बदल-बदलकर वहाँ पहुँच जाते हैं, जहाँ-कहीं लीलाका रसास्वाद मिलनेकी सम्भावना होती है। जब-जब प्रकट लीला होती है एवं जहाँ परदा नहीं रहता, वहाँ आकाशपरसे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिये शेष देवताओंके विमान छा जाते हैं।

वेणु-ध्वनिके स्वर्गमें पहुँचनेपर सब देवता देवांगनाओंकी आतुरता देखकर उन्हें साथ ले-लेकर विमानोंपर स्थित होकर नीचेकी ओर देखने लगे, यह बड़ा ही मधुर दर्शन था। श्रीगोपांगनाएँ देखती हैं कि आकाशसे फूल बरस रहे हैं। ऊपरकी ओर देखनेपर उन्हें आकाशमें विमानोंके दल-के-दल दिखायी दिये। योगमायाकी कृपासे गोपांगनाओंको वहाँका दृश्य दिखायी दिया। उन्होंने देखा कि वहाँ देवांगनाएँ अपने-आपको भूलकर वेणु-रव श्रवण कर रही हैं और अत्यन्त विमुग्ध हो रही हैं। इसे देखकर ये वन्दन करती हुई कहने लगती हैं कि 'देखो! ये हरिणियाँ तो भूमिमें विचरण करती हैं तथा साथ रहती हैं, पर आकाशमें विचरण करनेवाली स्वर्गवासिनी देववधुएँ भी कितनी सौभाग्यवती हैं कि ये आज अपलक नेत्रोंसे—निर्निमेष-श्रीकृष्णके सौन्दर्यका दर्शन कर रही हैं और प्राणभर उनका वंशीगान श्रवण कर रही हैं। उनके जन्मस्थान वृन्दावनमें जन्म लेकर भी हम तो वनमें नहीं जा सकीं, अपने घरोंमें बैठी हैं तथा भगवान्‌से वञ्चित हैं। आकाशचारिणी देववधुएँ इतने ऊँचे स्वर्गमें रहकर भी उन्हें देख रही हैं, सुन रही हैं; क्योंकि उनके पास विमान है, उनके पति देवता उनके साथ हैं और उन्हें देखनेकी शक्ति मिली हुई है। सदासे व्रजमें निवास करनेवाली हमलोग आज इस परम सुखसे वञ्चित हो रही हैं। या तो नीचे कुलमें उत्पन्न हरिणियाँ और पशु-पक्षी भाग्यवान् हैं या उच्च कुलके देवता तथा देववधुएँ। हम तो न इधरकी रहीं न उधरकी, बीचमें रह गयीं। हमारी तो कोई गिनती ही नहीं है। हम यदि पशु होतीं तो भी अच्छा था। और कहीं देवता हो जातीं तब भी आज देखनेको तो मिलता।

श्रीगोपांगनाओंको देवता या पशुसे मतलब नहीं है। ये सब बातें कहने-सुननेका, स्मरण करनेका तात्पर्य इतना ही है कि इसके द्वारा उनके अंदरकी श्रीकृष्णदर्शन और श्रीकृष्ण-संगकी अदम्य लालसा बरबस प्रकट

हो जाती है। अतः उनके सौभाग्यका वर्णन कर रही हैं। वर्णन करते–करते भगवान्‌का वह रूप फिर उनके सामने आ गया।

अपने–अपने भावके अनुसार अपनी–अपनी आँख होती है। जिस आँखसे व्रजांगनाओंने भगवान्‌के सौन्दर्य–माधुर्यको देखा, वे आँखें उन्हींकी थीं, दूसरोंकी नहीं। भावानुसार नेत्रोंके दर्शनमें भेद होता है। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें जब कंसके दरबारमें भगवान् श्यामसुन्दर एवं बलरामजी प्रवेश करते हैं, उस समयका वर्णन है कि विभिन्न भावोंसे पृथक्–पृथक् लोगोंने भगवान्‌को अपनी आँखोंसे देखा। आँखें तो सबकी थीं, पर उन्हें भगवान् विभिन्न रूपोंमें दिखायी दिये। गोपांगनाओंकी आँखोंमें वे श्रीश्यामसुन्दर हैं।

गोपांगनाओंकी आँखोंमें उनका वह मधुर ललित त्रिभंग, श्यामसुन्दर, नवनीरदकान्त मूर्तरूप बसा हुआ है। भगवान्‌की यह श्यामसुन्दर मूर्ति आनन्द और प्रेम तथा शोभा और श्रीके द्वारा ही निर्मित है। सारी शोभा, सारा सौन्दर्य, सारा प्रेम, सारा आनन्द इस मूर्तिमें ओत–प्रोत हैं। प्रत्युत उनके द्वारा निर्मित ही नहीं; अपितु ये उनका मूल स्रोत हैं। इन्हींसे सारे सौन्दर्य, शोभा, श्री, माधुर्यकी उत्पत्ति होती है। आनन्द और प्रेम, सौन्दर्य और माधुर्य—सब इनसे ही निकलता है। एक सो वे स्वयं आनन्द–प्रेम–सौन्दर्य–माधुर्यस्वरूप हैं, दूसरे इनका श्यामल सुन्दर रूप तो बड़ा ही सर्वजन–मनोहर है। उनके श्रीअंगका वर्ण नील–कृष्णाभ उज्ज्वल आभायुक्त है। मूलमें नीला है तथा नीलेपर काली छाया है और उसके ऊपर उज्ज्वल आभा या तेज है, जो बड़ा ही विचित्र है। माइकल मधुसूदन दत्तकी कविताका बड़ा ही सुन्दर अनुवाद श्रीद्विवेदीजीने किया है—

जिसने देखा कभी नयन भर मोहन रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है क्यों कर कुलकलंकिनी है राधा।।

कुल, मान, शील, धैर्य, धर्म, लोक, परलोक—ये सब बिना किसी कामके, बिना किसी वासनाके, बिना किसी आसक्तिके उस रूपमें बह जाते हैं। यह सब आसक्ति–कामनावश तो हमलोगोंके बह जाते हैं। भोग–कामना हमें तथा हमारे सारे विवेक एवं धर्म–कर्मको बहा देती है। पर यह तो नरकोंका रास्ता है।

उन भगवान्‌की पदवीको इन गोपांगनाओंने भजा, सेवन किया। वस्तुतः श्रुतियाँ जिन्हें खोज रही हैं। श्रुतियोंने निषेध–मुखसे जिनका वर्णन किया है। **नेति–नेति**—यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं, निषेध करते–करते

जो बच रहता है वही 'ब्रह्म' परमात्मा है। वह परमात्मा भी जबतक निषेध करनेवाली वृत्तिजनित है, तबतक वह ठीक परमात्मा नहीं। वह वृत्ति जहाँ न रहे, निषेध करनेवाली वृत्तिका भी जहाँ सर्वथा अभाव हो जाय, तब जो वस्तु बच रहे वह है भगवान्‌का स्वरूप। उसका वर्णन कोई कैसे करे ?

गोपियोंने भगवान्‌का सेवन कैसे किया, इसका वर्णन करते हुए उद्धवजीने कहा—'**या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा**। वैसे तो संसारके समस्त स्वार्थी, विषयान्ध, विषयासक्त लोग भी स्वजनों तथा आर्य-पथका त्याग कर देते हैं, इसमें गोपियोंने कौन-सी बड़ी बात की ? कामकलुषित चित्तसे अपने सुखके लिये अपनी भोगासक्तिवश तथा कामना-वासनाके आघातसे जो स्वजनों तथा अतिथिका त्याग करते हैं, वह तो पाप है, नरकोंमें ले जानेवाला है। पर गोपांगनाओंके आर्यपथके परित्यागका ऐसा महत्त्व है कि इनके चरणोंकी धूलिके एक कणका भी जिसे स्पर्श हो जाय वह पावन हो जाता है, पवित्र करनेवाला बन जाता है। उद्धवने भी उस रजःकणकी आकांक्षाकी। वे वनमें गुल्म, लता, औषधि अथवा कोई जड़ी आदि बन जायँ, जिससे उनपर गोपियोंके चरणोंकी धूलके कण पड़ जायँ तो वे कृतार्थ हो जायँ।

हाँ, श्रुतियोंके अनुसार सबके त्याग करनेपर जो बच रहता है, वह भगवान्‌का स्वरूप है। उनमें श्रीगोपांगनाओंकी भगवान्‌के अंग-संगकी जो लालसा है, यह कामना-वासनायुक्त नहीं, अतएव परम पवित्र है। स्वर्गवासिनी देवबधुओंको देखकर उनके मनमें भगवान्‌का जो रूप उनकी आँखोंमें बसा था, वह आ गया। गोपियोंकी वे आँखें कैसी है ? श्यामसुन्दरका रूप कैसा है ? वह '**वनितोत्सवरूपशीलम्**' है। वनिताका अर्थ यहाँ है-अनुरागवती या प्रेमवती स्त्रियाँ, जिनका भगवान्‌के लिये सर्वस्व त्याग हो चुका है। ऐसी स्त्रियोंके लिये यह रूप उत्सवमूर्त है।

एक बड़ा सुन्दर भाव भी है। स्त्रीका अर्थ ही है प्रकृति। चैतन्य-सम्प्रदायके लोग मानते हैं कि भगवान्‌को छोड़कर जो कुछ भी है, वह सारा-का-सारा प्रकृति है। पुरुष तो वह एक ही है, शेष सब प्रकृति है। सांख्यके अनुसार भी नाना—असंख्यपुरुष एक ही पुरुषके स्वरूप हैं। वह पुरुष एक ही है, शेष सारा-का-सारा उसकी प्रकृतिका खेल है। परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति—ये दोनों ही संसारमें खेल कर रही हैं। दोनों उनकी प्रकृतियाँ हैं। वास्तवमें पुरुष तो वह एक ही है। जो सारी प्रकृतिको उत्सवमय बना दे, ऐसा जिसका रूप हो, जिसका शील-स्वभाव इस प्रकारका हो, जो स्त्री-मात्रके

लिये उत्सवस्वरूप हो तथा उसके रूप एवं स्वभावशीलका स्मरण होते ही प्रकृति खिल उठे, मनमें उसके साथ रहनेका, उसे प्राप्त करनेका एक अदम्य उल्लास पैदा हो, उसीको 'वनितोत्सवरूपशीलम्' कहा है। भगवान्‌के अवतारके समयका वर्णन भागवतमें आता है कि उस समय सारी प्रकृति उत्सवमयी, उल्लासमयी बन गयी।

शुकदेवजीने भगवान्‌का नाम रखा है कृष्ण। कृष्ण माने आकर्षक—सर्व-चित्ताकर्षक—समस्त देव, ऋषि, मुनि, महात्माके चित्तको जो हठात् खींच ले, न खिंचना चाहे तो भी खींच ले। ऐसा वर्णन मिलता है कि जिनका मन मर चुका उनके सामने भी यदि श्रीकृष्ण कभी चले जायँ तो उनका मरा हुआ मन भी उनके रूप-सौन्दर्यका निरीक्षण करनेके लिये जीवित हो उठता है। ऐसे वनितोत्सवरूपशीलवाले श्रीकृष्ण व्रजेन्द्रनन्दनको देखकर और तत्क्वणित वेणुगीतको सुनकर बरबस गोपियाँ आकृष्ट हो गयीं। उनके द्वारा बजाया हुआ वेणु गीत क्या है ? यह समस्त संगीतका मूल रूप है। जो आदि ध्वनि है, आदि स्वर है, इसका मूलस्वरूप इस वेणुमें है। भगवान् श्रीश्यामसुन्दर और श्रीराधिकाका जो विषयालम्बन और आश्रयालम्बन-स्वरूप है, उन दोनोंके द्वारा जो उपभोग्य रस है, उस रसके चार-चार भेद हैं, यही आठ इस मुरलीके आठ छिद्र हैं। उन छिद्रोंमेंसे आठपर अंगुलियाँ रखकर और नवें छिद्रके द्वारा भगवान् अपनी अधररससुधा उसके अंदर डालते हैं और उन आठोंमें जाकर किसी छिद्रसे वह रसका प्रवाह निकलता है। यही भगवान्‌का मुरली-निनाद है। वास्तवमें ये सभी भाव मधुर उज्ज्वल रसके हैं। वेणुनाद विशुद्ध रसमय है। यह वेणुनाद कानोंको तृप्त करनेवाला भोगमात्र नहीं है, अपितु यह मुनियोंके मनोंमें ब्रह्मकी ज्योति जगा देनेवाला, तपस्वीके तपको बढ़ा देनेवाला, सम्पूर्ण प्रकृतिके प्रकाशको ज्योतिर्मय, भगवन्मय बना देनेवाला विशुद्ध रसमय है।

यह वेणुनाद है किसका ? वेणुको बजाया किसने ? यह किसी भोगीके द्वारा बजाया हुआ वेणुनाद नहीं है। यह अधोगतिमें ले जानेवाली भोगरसकी स्वरलहरी नहीं है। यह तो सच्चिदानन्दघन स्वयं भगवान्‌के द्वारा वेणित—उनके द्वारा बजायी हुई वाणी है, गीत है। भगवान्‌के द्वारा बजाये हुए इस विचित्र वेणुगीतको सुनकर और 'वनितोत्सवरूपशीलम्' भगवान्‌को देखकर सब-की-सब देवांगनाएँ मुग्ध हो गयीं। उनके अंदर भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा जग उठी। वे शिथिल-कलेवर हो गयीं।

उसीमें वे अपने-आपको खो बैठीं, सब-की-सब मूर्च्छित होकर अपने-अपने पतियोंकी क्रोडमें गिर गयीं। कृष्णानुरागवती रमणीगणमें सबसे प्रथम स्थान है प्रकृतिका। प्रकृतिरूपी रमणी जब सजती है, तब समुत्सुक होकर अपने-आपको परम शृंगारवती बनाती है। जब स्वयं इसके स्वामी, अधिष्ठाता, अधीश्वर पधारते हैं, तब भगवान्‌की नित्य-संगिनी, धर्मपत्नी धरा, सारी प्रकृति, धरापर रहनेवाले सारे प्राकृतिक पदार्थ परम रमण भगवान् श्यामसुन्दरका स्वागत करनेके लिये, उन्हें देखनेके लिये रमणीय रूपसे सजते हैं। उनका रूप-सौन्दर्य कैसा है ? जैसे किसी घरमें कोई उत्सव होता है तो उस समय सारे घरमें चहल-पहल मच जाती है। उत्सवमें यों तो बखेड़े बहुत आते हैं, काम भी बहुतसे होते हैं, उनमें बड़ा परिश्रम भी होता है, बड़ी भीड़-भाड़ होती है, बड़े-बड़े भोज होते हैं, बहुत लोग इकट्ठे होते हैं। जहाँ उत्सव है वहाँ उल्लास, आह्लाद, मोदका प्रवाह बहता है। उत्सवमें सम्मिलित होनेवालोंके हृदय, शरीर, नेत्र, वाणी, क्रियामें छलकता है आह्लाद; क्योंकि यह आनन्दोत्सव है। उत्सव करनेवाले लोग उत्सवमें ही मत्त हो जाते हैं। जो भगवान्‌को समर्पित हो रहे हैं, उनके लिये तो नित्य उत्सव रहता है, नित्य-सौख्य, नित्य-श्री, नित्य-मंगल, नित्य-उत्सव है। हमलोगोंके विषाद-शोक-भयग्रस्त जीवनमें कभी-कभी उत्सवके अवसर आते हैं और उन अवसरोंमें भी विषाद एवं विनाशका भय लगा रहता है। वे उत्सव भी वास्तविक अर्थमें केवल उत्सव नहीं होते। भगवान्‌को पसंद करनेवाली रमणीके सामने जब भगवान्‌का स्वरूप-सौन्दर्य आता है, तब उसका जीवन उत्सवमय हो जाता है; क्योंकि वे वनितोत्सवरूपशील हैं। भगवान्‌के रूप भगवान्‌के शील, सौन्दर्य एवं स्वभावको जिसने जरा-सा झाँक लिया, उसका सौभाग्योदय हो गया। जिसे जरा-सी झाँकी—उस वनितोत्सवरूपशीलकी हो गयी, वही अपने-आपको खो बैठा।

चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी बड़े कट्टर लोग थे। उनका संन्यास बड़ा कड़ा था। ये लोग स्त्रीसे मिलते तो थे ही नहीं, मुखसे स्त्रीका नाम भी नहीं लेते थे। स्त्रीको प्रकृति कहते थे। उनके अनुसार विश्वमें एक भगवान्‌को छोड़कर सारा ही प्रकृतिका विस्तार है। सब प्रकृति है। मीराबाई वृन्दावनमें जीवगोस्वामीके यहाँ दर्शन करने गयीं। उनकी ओरसे जीवगोस्वामीजीके पास समाचार पहुँचा कि मीरा दर्शन करने आ रही है। जीवगोस्वामीने अपने संन्यासके स्वभाववश स्वाभाविक ही कह दिया कि हम प्रकृतिके दर्शन नहीं

करते, प्रकृतिसे नहीं मिलते। उसके उत्तरमें मीराबाईने कहलाया—पुरुष तो यहाँ कोई दूसरा है नहीं, आप भी प्रकृति हैं। तब प्रकृतिसे न मिलनेकी बात कैसी ? यह सुनते ही जीवगोस्वामीने मीराबाईको बुला लिया।

अभिप्राय यह है कि एक भगवान् ही पुरुष है और जगत्का सारा विस्तार प्रकृतिका विस्तार है। यह प्रकृति दूसरे—दूसरे रूपोंको देखनेमें लगी रहती है, इसलिये इसे ठीक—ठीक सुखकी अनुभूति नहीं होती। यदि प्रकृति भगवान्के रूप—सौन्दर्यको कभी देख पाये तो इसका जीवन उत्सवमय हो जाय। सद्ग्रन्थोंमें ऐसा वर्णन आता है कि जब—जब भगवान्के मंगलावतार होते हैं, तब—तब सारी प्रकृति उत्सवमयी हो जाती है। प्रकृतिमें जहाँ—जहाँ भगवान्की लीलाएँ होती हैं, वहाँ—वहाँ हर जगह प्रकृति अपने सारे सौन्दर्यको बिखेरकर उत्सवमयी बनकर उनकी सेवा करती है। प्रकृतिके जीवनमें यह आह्लाद, उत्सव, आनन्द, प्रमोद, कहाँसे आता है? यह उस पुरुषके द्वारा ही आता है। यह जो भगवान्का रूप—शील है, उसीसे ये रूप—शील—गुणवती बनती हैं।

श्रीश्यामसुन्दर अपनी वेणुद्वारा विचित्र स्वर—लहरी छेड़ रहे हैं। वैसे तो संसारमें हम सभी गा रहे हैं, पर स्वरोंमें और रसमें भी भेद होता है। रोना भी गाना ही है। उसमें करुणरस रहता है, जो सुननेवालोंको द्रवित कर देता है। खीजना भी गाना है, उसमें रौद्ररस रहता है, जो सुननेवालोंको भयभीत-सा कर देता है, काँपा देता है। नौ रसोंसे युक्त सप्तस्वर सम्पूर्ण जगत्में [illegible] द्वारा बजते रहते हैं, किंतु बजानेवाले होते हैं [illegible]। विषयासक्त—हृदयवाले पुरुषोंका संगीत गिरानेवाला होता है। भगवद्रसिक पुरुषोंका वही संगीत उत्थान कराने, ऊपर उठाने तथा भगवान्तक पहुँचानेवाला होता है। वह संगीत जब भगवान् स्वयं गाते हैं, तब तो फिर उसकी कहींपर तुलना ही नहीं, उपमा ही नहीं है। 'उत्थानिताशेषपशुविचित्रगीतम्'। यहाँ स्वयं उनके द्वारा वंशी बजायी जाती है। वंशीके छिद्रोंमें अपने अधरामृतको सींचते हुए भगवान् समस्त रसों तथा सुरोंका विस्तार करते हैं, अतः यह गीत विचित्र है। सारे जगत्को आत्मस्मृति विस्मृति कराकर भगवान्के भावमें प्रवृत्त कर देनेवाला यह गीत है। पर यह सबके भाग्यमें नहीं होता। यह गीत प्रत्येककी रुचि तथा भावके अनुकूल ही उनमें क्रिया पैदा करता है तथा भावका उन्मेष कराता है।

विमानोंमें बैठी हुई देववधुओंने पतियोंके साथ—साथ भगवान्के

वनितोत्सवरूपशीलको अच्छी तरहसे देखा, निरीक्षण किया, केवल बाहरी आँखोंसे नहीं देखा, आँखोंको गड़ाकर देखा, आँखोंको लगाकर देखा तथा दूसरे सारे रूपोंको हटाकर देखा। जबतक हम बहुत-से रूप देखते हैं, तबतक उस रूपको ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं कर सकते। 'जिन आँखिनमें वह रूप बस्यौ उन आँखिन सौं फिर देखिय का'—जिन आँखोंमें वह रूप आ गया, वे आँखें दूसरे रूपको फिर कैसे देखें? उस रूपको देखकर देववधुओंकी भी आँखें बंद हो गयीं। उस रूपको देखकर, उस गानको सुनकर उनकी विचित्र दशा हो गयी। किसी प्रकार भगवान्‌का संग प्राप्त हो, भगवान्‌का स्पर्श किसी भी इन्द्रियके द्वारा मनतक कैसे भी पहुँच जाय तो वह पवित्र करनेवाला, जगत्‌को भुला देनेवाला और भगवान्‌के प्रेम-रसका उदय करनेवाला होता है। देववधुओंने श्रवणेन्द्रियोंद्वारा वेणुनादके रूपमें भगवान्‌के अधरामृतका संस्पर्श प्राप्त किया। वेणुनाद भगवान् श्रीश्यामसुन्दरका अधरामृत है, अधरामृत सींच करके उन्होंने वेणुके द्वारा रसोंका विस्तार किया। यह वेणु भगवान्‌की रसविस्तारिणी है।

टीकाकार इस विचित्र गीतका अर्थ यों करते हैं—'विधिवच्छृंगारादिरसलब्धविभागं गीतम्।' भगवान्‌ने शृंगारादि जो नौ रस हैं, उन विविध रसोंको केवल बजाया ही नहीं, अपितु उनके अंदर अनेक प्रकारके आकर्षक एवं प्रमत्त कर देनेवाले भावोंका विस्तार किया। वे भाव जब जाकर हृदयोंसे टकराये तो उन्होंने अंदरके सभी मल-विक्षेपोंको चूर्ण-चूर्ण कर दिया, जिससे हृदयमें केवल उस भावरस-सुधाका संचार हो गया। देववधुओंने विमानोंपरसे 'वनितोत्सवरूपशील'का भलीभाँति निरीक्षण किया और इनके द्वारा विविध शृंगारादिरसलब्ध-विभागयुक्त गाये और बजाये हुए संगीतको सुना। उन्हें नेत्रों और कर्णोंके द्वारा भगवान्‌का संस्पर्श प्राप्त हुआ।

भोगस्पर्श स्पर्शकालमें अनुकूल होनेपर सुखकी प्रतीति कराता है, किंतु उसका फल विषमय होता है। 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'—जितने भी संस्पर्शज भोग हैं, वे सब दुःख-योनि हैं। 'विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।' विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श प्राप्त होनेपर जो सुख मिलता है, वह पहले अमृतके समान लगता है, पर उसका फल है विषके समान। भगवान्‌का संस्पर्श जमी हुई बर्फके समान है। हम किसी ओरसे उसे स्पर्श करें, ठंडक देगी। आगमें तपाया हुआ लोहेका गोला हम कहींसे भी स्पर्श

करें तो जलायेगा ही। इसी प्रकार भगवान्‌के किसी भी अंगका किसी भी अंगके द्वारा संस्पर्श जगत्‌के जंजालको जला देगा और मनमें भगवद्भावका उदय करा देगा। देववधुओंको आँखों एवं कानोंके द्वारा यह संग प्राप्त हो गया, बड़ा दुर्लभ संस्पर्श प्राप्त हो गया। मनके द्वारा स्पर्श प्राप्त करनेपर यदि यह स्थिति होती है तो श्रीअंगोंके स्पर्शसे कैसा क्या होता है, यह तो कुछ कहते नहीं बनता।

श्रवण एवं नामस्मरणमें भी पूर्वरागका उदय होता है। एक पद है—**कृष्णनाम जब तें मैं सुन्यो री आली बावरी भई हूँ** जबसे कृष्णनाम सुना, तबसे मैं पागल हो गयी हूँ। जिसके नाम-श्रवणसे यह दशा होती है, जगत् भूल जाता है, उसका यदि दर्शन हो जाय, आँखें उसे देख लें, अंगोंका स्पर्श हो जाय तो क्या स्थिति होगी ?

देवांगनाओंने अंगोंका स्पर्श नहीं पाया। वे कान और आँखके द्वारा भगवान्‌के रसका संस्पर्श प्राप्त कर सकीं तो क्या स्थिति हुई ? **'देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः'**—इसका भावार्थ यह है कि विमानमें बैठी हुई देववधुओंका इस गानको—मुरलीनिनादको सुनकर और भगवान्‌के **'वनितोत्सवरूपशील'** को देखकर उनके अंदर ऐसा भाव प्रबल रूपसे उठा कि जिन्हें वे देख रही हैं, वे मिल जायँ। भगवान्‌से मिलनकी पवित्र कामना पैदा हुई तो उनके धैर्यकी च्युति हो गयी। वे उन्मादिनी-सी हो गयीं। इस प्रकार उनके दिव्य देवशरीरमें एक कम्पन-सा उत्पन्न हुआ, जिससे सारे शरीरके वस्त्राभूषण हिल उठे।

कोई देवी दौड़ रही हो तो उसके सिरके जूड़ेमें खोंसे हुए फूल गिर जायँ यह तो स्वाभाविक बात है, पर ये तो विमानमें बैठी थीं, चल नहीं रही थीं, दौड़ नहीं रही थीं, घूम-फिर नहीं रही थीं। ये तो विमानमें स्थिर बैठी हुई निर्निमेष नेत्रोंसे श्रीश्यामसुन्दरके स्वरूप-सौन्दर्यका दर्शन और कानोंको लगाये वेणुगीतका श्रवण कर रही थीं, परंतु वह जो स्मरका उदय हुआ, मिलनकी प्रबल कामना उत्पन्न हुई, उस कामनाने उनका धैर्य खो दिया। वे गिरने लगीं और यहाँतक हुआ कि उनकी कबरीमें—जूड़ेमें जो पुष्प लगे थे वे सारे-के-सारे गिरने लगे। उनका केशबन्ध विचलित हो गया, जिससे फूलोंकी माला अपने-आप खुल गयी। इतना ही नहीं—'विनीव्यः' उनके सारे वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये, बँधे हुए वस्त्र शिथिल हो गये। 'विनीव्यः', अर्थात् **'स्खलितकटिवसनाः'**, यह होनेके साथ ही वे मूर्च्छित

होकर अपने-अपने पतियोंके अंकमें—गोदमें गिर गयीं।

भगवान्‌के लिये जब मनुष्यका हृदय अत्यन्त आकुल हो जाता है, उस समय जगत्, जगत्‌की वस्तुएँ, शरीर, शरीरसे सम्बन्धित पदार्थ—ये सब उसके सामने कुछ भी मूल्य नहीं रखते। इन सबका मोह अपने-आप गल जाता है तथा इन सबका बन्धन अपने-आप टूट जाता है। भगवान्‌से मिलनकी लालसाका बन्धन समस्त बन्धनोंको तोड़ डालनेवाला है। यह बन्धन जब हृदयको बाँधता है तो और सारे बन्धनोंको अपने-आप तोड़ डालता है। दूसरे बन्धन रह नहीं सकते। इस दिव्य मोहके उदय होनेपर सारे मोह जल जाते हैं, गल जाते हैं, रहते नहीं। ये देववधुएँ भी भगवान्‌के उस ललित त्रिभंग अत्यन्त मनोहर रूप-सौन्दर्यको देखकर मोहित हो गयीं, जिससे उनकी कबरियोंसे पुष्प स्खलित होकर नीचे गिरने लगे।

ये देववधुएँ हजारों-हजारों थीं, दो-चार नहीं। समस्त देवलोक विमानोंमें इकट्ठा हो गया था। कृष्णानुरागवती देव-वनिताओंको इस रूपने विमुग्ध कर दिया और इनकी कबरीसे गिरे फूलोंकी वर्षा होने लगी। इस पुष्पवर्षाने ही पहले गोपांगनाओंका ध्यान ऊपरकी ओर आकृष्ट किया था। जब फूलोंकी झड़ी लग गयी, समस्त देवलोकके फूल गिरने लगे, तब उन्होंने ऊपर देखा कि इन्हें कौन गिरा रहा है ? उस समय श्रीगोपांगनाओंको विमानोंमें बैठी हुई देववधुओंके मंगलमयदर्शन हुए। अप्रत्याशित कुसुमवृष्टि हुई और फिर उनके वसनतक स्खलित हो गये। वे अपने-आपको भूल गयीं। संसारमें धन्य वही है जो भगवान्‌की मिलन-लालसासे ऐसा विमुग्ध होता है। हमलोग भोग-लालसासे विमुग्ध हैं, पर इसका फल है नरकोंकी प्राप्ति। भोग-लालसाके रूपमें हम लोग नरकोंमें जानेका सामान इकट्ठा कर रहे हैं। हमलोग धन्य नहीं हैं, हमारा जीवन तो धिक्कारके योग्य है, क्योंकि जिस कामके लिये हम मनुष्य बने उसके विपरीत काम कर रहे हैं, अपनेको अधोगतिमें ले जा रहे हैं। पर जिनका हृदय भगवान्‌के लिये विगलित हो गया, जिनके हृदयमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी अदम्य लालसा उत्पन्न हो गयी, जिनके हृदयने उन्हें उन्मत्त बना दिया, उन्मत्त होकर वे अपने-आपको भूल गये, बस ! वे ही सौभाग्यशाली हैं। गोपांगनाएँ कहती हैं कि हम तो अभागिनी हैं। इन दूर, सुदूर देवलोकमें रहनेवाली देववधुओंने श्रीश्यामसुन्दरके रूप-सौन्दर्य तथा माधुर्यरसका पान किया और वे लज्जा, भय, कुल, शील, मान आदिका परित्याग करके अपने-आपको इस प्रकार भुलाकर मूर्छित हो गयीं, परंतु

हम यहाँ बैठी बातें बना रही हैं। यह सब देखकर भी हम मूर्छित नहीं हुईं, हम अभागिनी हैं। ये सौभाग्यशालिनी हैं; क्योंकि मिलनलालसाने उन्हें विवश कर दिया, आत्मविस्मृत कर दिया, स्खलितकबरा कर दिया तथा गलितवसना कर दिया। उनके जीवनमें यह सब हो गया। वे धन्य हैं। उनका सौभाग्य है कि उनके पतियोंका आचरण उनके अनुकूल है।

देवबधुएँ बड़ी सौभाग्यशालिनी हैं। ये देवता तो विषयरत एवं भोगरत होते हैं, पर आज इन देवताओंका सौभाग्य चमका कि ये अपनी-अपनी पत्नियोंको भगवान्‌की ओर आकृष्ट देखकर स्वयं उनके सहायक बन गये। यह देवताओंका सौभाग्य था जो आज देवबधुओंके लिये बड़े सुखकी वस्तु बन गया। श्रीकृष्णका रूप देखकर कठोरहृदय देवताओंका हृदय भी आज अपनी पत्नियोंका हृदय देखकर द्रवित हो गया। वे सब भी भगवान्‌के प्रेममें आज उन्मत्त-से हो गये तथा वे अपने भाग्यकी बड़ी प्रशंसा करने लगे कि हमारी पत्नियाँ आज श्रीकृष्णके प्रेममें विगलित-ज्ञान और मूर्छित होकर हमारे अंकोंमें पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सौभाग्य और क्या होगा ? तीनों लोकोंमें ये अतुलनीय हैं। ऐसी भक्त पत्नियोंका स्पर्श प्राप्त करके देवता अपनेको धन्य मान रहे हैं।

गायों और गोवत्सोंका वेणुनाद-पान

महाभाग्यवती परम प्रेममयी श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीगोपांगनाएँ भगवान् श्यामसुन्दरके मुरली रवको सुनकर भावाविष्ट हुई परस्पर सखियोंसे मुरली ध्वनिके सम्बन्धमें बातचीत कर रही हैं। प्रथम मुरली ध्वनिका वर्णन करते समय मुरलीकी बड़ी प्रशंसा की। उसके सौभाग्यका वर्णन किया। वर्णन करते-करते देवबधुओंकी बात आयी, देवबधुएँ तमाम विमानोंमें चढ़कर वहाँ आकाश-मण्डलमें स्थित हो गयीं। भगवान्‌के वनितोत्सव रूप शीलको देखकर वनितामात्रका उत्सव रूप, भगवान्‌के रूप, शील, स्वभावको देखकर और स्वयं उनके श्रीमुखसे बजाये हुए, गाये हुए मुरलीके मधुर स्वरको सुनकर वे सब-की-सब आत्मविस्मृत हो गयीं। वे बाह्यज्ञान शून्य होकर अन्दर-ही-अन्दर भगवान्‌का अनुभव करती हुई, मूर्च्छितकी भाँति विमानोंमें अपने-अपने पतियोंके अंकोंमें गिर गयीं।

पूर्वरागवती व्रजरमणियोंमें प्रेमके संचारी भावका उदय हो गया। प्रेमके

संचारी भावमें दैन्य आता है। उस दैन्यको लेकर ये पूर्वरागवती व्रजरमणियाँ अपनेको बहुत दीन मान रही हैं कि हम कैसी हैं ? देवताओंकी स्त्रियाँ ऊपरसे देखकर और सुनकर मूर्च्छित हो गयी, उनका हृदय विगलित हो गया। वे सोचने लगी ये देववधुएँ मूर्छागत हो गयी, हमारा हृदय विगलित नहीं हुआ। हम तो भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करनेके लिये इतनी व्याकुल नहीं हुईं। हम तो चिरवंचित हैं। विधाताने हमारे इस व्यर्थ जीवनको क्यों बनाया ?

व्रजरमणियोंके इस भावको रूपगोस्वामीजीने 'उज्ज्वल नीलमणि' में 'मुक्तायित' कहा है—

कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः।
प्राकट्यमिलाषस्य मौद्गायितमुदीर्यते।।

यह मुक्तायित भाव है अर्थात् प्रियतमके स्मरण और कथा प्रसंगमें उनके सम्बन्धमें बातचीत करते समय आन्तरिक भावोंका आवेग अनायास जब बाहर निकलने लगता है तब उस भावको मुक्तायित भाव कहते हैं। इस मुक्तायित भावमें व्रजरमणियोंके हृदयकी बात जो अबतक छिपी हुई थी वह देवरमणियोंके पास जाकर गायोंकी बात करेंगी। गायें भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करती हैं। व्रजरमणियाँ अपनेको कृष्ण—मिलनविहीन, कृष्ण—मिलन—वासना—गन्ध-विरहित मानकर अभागिनी मानती हैं। कृष्ण—मिलनकी व्याकुलता जिनके हृदयमें है—उनके जीवनको सार्थक और धन्य मानकर वे अपने मनकी बात छिपाती हुई भी प्रकट कर रही हैं। देववधुओंको देखते हुए ही उनको दिखायी दिया कि गायोंके झुंड—के—झुंड वहाँ खड़े हो गये। बछड़े जो थे वे सब आ गये और कान लगा दिये।

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः।।

(श्रीमद्भा० १०। २१। १३)

गायोंके बछड़े माताओंके स्तनोंसे निकले हुए दूधको ग्रास बनाये हुए तथा पीनेवाले शावा,गोवत्स—शावक मुँह ऊपर किये, कहीं गिर पड़े तो कानरूपी दोनोंको ऊपर उठाकर दोनोंमें उन्हें भरना है और अन्दर ले जाना है। कहीं बूँद नीचे न गिर पड़े। इस भयसे कानरूपी दोनोंको—पानपात्रको पीनेके बर्तनोंको ऊपर उठाये हुए उन्होंने पान किया।

श्रीकृष्णके मुखके फुंकारमात्रसे निकले हुए वेणुगीतरूप अमृतको पान किया। भगवान्‌ने रसको अन्दर छोड़ा नहीं केवल अधरोंका स्पर्श कराया।

अधर रसके द्वारा वेणुका सिंचन किया फूँक देकर। वेणुमें फूँक देते हैं, रस ढालते नहीं हैं। फूँकके द्वारा श्रीकृष्णके मुखसे जो अमृत गया और अमृत जब वेणुगीतके द्वारा वेणुके छिद्रोंसे निकला। उस अमृतका आस्वादन उन वृन्दावनकी गायें और उन गायोंके स्तनपानमें लगे बछड़े दोनों कानोंको कानरूपी पात्रोंको ऊपर उठाकर उससे पी रहे हैं, अमृत आस्वादन कर रहे हैं और नयनोंके द्वारा हृदयमें प्रविष्ट हुए श्रीकृष्णका आलिंगन करते वे अनुव्याप्त नयनोंसे निस्पन्द भावसे चुपचाप खड़े—के—खड़े रह गये। वे रूपका ध्यान करने लगे और कानोंसे अमृतका पान करने लगे।

ये गायें और माताएँ धन्य हैं जिनके स्तनोंमें मुँह लगा—लगाकर भगवान्‌ने उस दुग्धामृतका पान किया। अब श्रीगोपांगनाएँ भगवान्‌के मधुरतम स्वरूपका, सौन्दर्यका दर्शन करती हुई, मनकी आँखोंसे और कानोंसे भगवान्‌की मुरली ध्वनिका मधुर श्रवण करती हुई मनकी बातोंको छिपा रही थीं। परंतु आकाशचारिणी इन देववधुओंके वर्णन करनेके समय इनकी मनकी बातका पर्दा कुछ हट गया। देवियोंकी जो दशा उन्होंने वर्णन की उसमें उनके मनके भाव सर्वथा गोपनीय नहीं रह सके।

देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः।

(भागवत १०। २१। १२)

इन शब्दोंमें श्रीगोपांगनाओंके द्वारा उनके मनके भावोंपर जो एक आवरण था वह कुछ हट गया। यहाँ तो गोपन करनेकी चेष्टा है इसलिये भी श्रीगोपांगनाएँ वात्सल्यवती प्रेममयी सभी गायोंकी और सद्योजात—अभी—अभीके पैदा हुए बछड़ोंकी बात कहकर मानों फिर आत्मगोपन करने लगीं, फिर अपने भावोंको छिपाने लगीं। देववधुओंकी चर्चामें शुद्ध माधुर्य आने लगा था। उनके अन्दरके भाव जो सुगुप्त रखकर बोल रही थीं वे कुछ प्रकट हो गये—देववधुओंकी दशाका वर्णन करते समय। इन्होंने फिर स्वाभाविक भाव—गोपनकी चेष्टा करते समय गायोंकी जो माधुर्य भावापन्न नहीं वात्सल्य भावापन्न, जिनका स्तनपान करते थे श्रीश्यामसुन्दर और उनके छोटे—छोटे बछड़ोंकी बात चलाकर मानों अपने—अपने भावोंपर उन्होंने फिर आवरण डालनेकी चेष्टा की।

प्रेमवती श्रीव्रजांगनाओंने कहा—सखी! आकाशविहारिणी इन देववधुओंकी स्थिति देखकर तो यह मालूम पड़ता है कि वे रमणी हैं और वैदग्धी भावोंमें निपुण हैं। इसलिये रमणीमोहन श्यामसुन्दरको देखकर और उनके रसोद्दीपक

वेणुनादको सुनकर वे मुग्ध हो गयीं तो ठीक ही है। परंतु वे कहती हैं कि हमारे जो श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन हैं इनमें केवल मानव या देवता जिन लोगोंमें विवेक है, शृंगारादि रसोद्दीपक भाव जिनके हृदयमें है उन्हींका मुग्ध होना कोई आश्चर्य नहीं है वे तो मुग्ध होते ही हैं लेकिन हमारे व्रजेन्द्रनन्दनके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग और उनकी असमोर्ध्व माधुरी और भंगिमा ऐसी मोहिनी है कि उनको देखकर और उनके मुरली ध्वनिको सुनकर मनुष्य, देवता असुर ही नहीं जीवमात्र अपने-आपको भूल जाते हैं; इसलिये देवरमणियोंने अगर अपनेको भुला दिया तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यह तो स्वाभाविक है कि जिसने एकबार उस सौन्दर्यकी झाँकी कर ली वह सदाके लिये आत्म-विस्मृत हो गया। परन्तु हमारे व्रजराजनन्दन गौ चरानेके बहाने वनभूमिमें पहुँचकर जब वेणुनाद करते हैं तब उनकी मुरलीके छिद्रोंसे जो एक परम मधुर नाद निकलता है वह कैसा है ? वह द्रव-पदार्थ है या कोई दिव्य अमृत है या कोई रस-विशेष है।

यह कोई मधुर ध्वनि है या कोई चेतन पदार्थ है इसका निर्णय करनेमें कोई समर्थ नहीं होता है। क्योंकि प्रत्येकको अपने-अपने भावानुसार वह नाद मुग्ध करता है। बड़े-बड़े ध्यानस्थ मुनियोंके कानोंमें पहुँचकर वह नाद उनकी समाधिको भंग कर देता है और बहुत बड़े-बड़े चंचल प्रवृत्तिके लोगोंके कानोंमें पहुँचकर वह उन्हें समाधिस्थ कर देता है। चेतन प्राणी निःस्तब्ध हो जाते हैं और अचेतन वृक्षोंमें कम्पन होने लगता है। रसकी धारा बहने लगती है। वह कैसा है, क्या है उसके किसी एक स्वरूपका निर्धारण करनेमें कोई समर्थ नहीं। वह तो ऐसा विचित्र है कि केवल मनुष्योंकी ही बात नहीं, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नद-नदी, पर्वत-शिलाएँ, स्थावर-जंगम कोई भी क्यों न हो वह परम मनोहर वेणु-निनादका संबन्ध होने मात्रसे-कान नहीं हैं, बिना कानके, बिना इन्द्रियके, जड़, शिला, पत्थर सुन नहीं सकते, यह ठीक परन्तु यह ध्वनि वहाँ जाकर टकराती तो है उनसे, स्पर्श करती है। तो यह मुरली-रन्ध्रसे निकली हुई अमृत-धारा भगवान्‌की ये परम मनोहर मुरली-ध्वनि, यह जिस किसीके साथ स्पर्श कर लेती है—सम्बन्ध जिससे हो जाता है वह चाहे कोई हो; उसको एक विचित्र परमानन्द-सागरमें बाध्य होकर डूबना पड़ता है। उसको अपने-अपने भावानुसार उनमें बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं। इन शिलाओंमेंसे रस-धारा निकलने लगती है तो मानो सभी जिनके साथ मुरली-ध्वनिका सम्पर्क

हुआ, स्पर्श हुआ वो चाहे पहाड़ हो, वृक्ष—लता हो, पशु—पक्षी हो इस लोकमें—परलोकमें कहींके भी प्राणी हों, स्थावर—जंगम सब कुछ परमानन्द सागरमें डूब जाता है। इनमें जो गायें हैं वे भगवान्‌की नित्य स्नेह करनेवाली, इनका दुग्धामृत भगवान् पान करते हैं तो उन्होंने जब वंशी—निनादको सुना तो उनको ऐसा लगा जैसे उनके कानोंमें धारा रूपमें कोई अमृतका रस बरस रहा हो। गायोंको तो ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके कर्ण—विवरोंमें मानों धाराकारसे कोई अमृत—रस बरस रहा है। अमृतरसका कानोंके द्वारा मनमें आस्वाद प्राप्त करके उन्होंने चरना छोड़ दिया और वे ऊँचेको मुँह उठाकर वहींसे भागी सब। जहाँ—जो चर रही थीं वहींसे भागीं उस अमृत—वर्षाकी तरफ। उन लोगोंके मनमें योगमायाके द्वारा यह भाव आया कि नीचा मुख करके घास चरती रहेंगी तो कानरूपी विवरोंमें प्रवेशकी हुई जो अमृत—धारा है वह कानोंके द्वारा बहकर नीचे निकल जायेगी। इसलिये वे उर्ध्वमुख होकर दौड़ीं। और केवल ऊँचे मुख करके ही नहीं, ये कर्णपुट—कानरूपी दोने, रस—पान—पात्रको भी ऊपर उठा लिया। ताकि वंशीनादकी अमृत—धारा कहीं नीचे बह न जाए।

यह ठीक है कि देवबधुओंकी भाँति शृंगारादि रसोद्दीपक भावोंकी अभिव्यक्ति गायोंमें नहीं हो सकती क्योंकि गायें विवेकहीन हैं उनको इन रसोंका ज्ञान नहीं। परंतु वंशी—रवमें जो एक माधुर्य है वह बड़ा मीठा संगीत है और इस संगीतके माधुर्यको ग्रहण करनेमें ये गायें समर्थ ही हैं। अतः न तो गायें वंशी—रवके माधुर्यको ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं और न ही वह वंशी—रव ही ऐसा है जो इन अविवेकी पशुओंके पास जाकर भी अपने माधुर्यको प्रकट न कर दे। वंशी—रवका माधुर्य जड़—चेतन सबमें यह माधुर्य प्रकाशित करनेकी शक्ति रखता है और ये गायें भी विवेकहीन पशु होनेपर भी शृंगारादि उद्दीपक रससे रहित होनेपर भी उस माधुर्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं। इसलिये श्रीकृष्णके मुख सुधाकरसे निकली हुई यह सुधा—धारा, यह वंशीनादामृत—धारा जब गायोंके कानोंमें प्रवेश करती है तब अवश्य ही वे नहीं जानती हैं कि यह कोई बाजेकी स्वर—लहरी है। स्वर—लहरीका उन्हें पता नहीं है किंतु अनिर्वचनीय—एक ऐसी माधुर्यकी धारा उनके अन्दर प्रवेश करती है, कानोंके द्वारा जो उनको विमुग्ध कर देती है और वे वंशीनादके माधुर्यकी ओर अपने कानोंको लगाकर जब ऊपरकी ओर देखती हैं तब श्यामसुन्दरका वह वदन—मण्डल दिखायी देता है बड़ा सुन्दर।

मदनके मनको मोहित करनेवाला चन्द्रवदन दिखायी देता है। वे उस माधुर्यके आवेश में अपने–आपको खो देती हैं। कोई कहे कि इसमें कौन–सी बड़ी बात है ये गायें तो रोज इनके साथ रहती हैं, ये हाथ फेरते हैं तो स्वाभाविक ही इनसे स्नेह हो गया होगा। यहाँपर शुकदेवजीने गायोंके साथ–साथ छोटे–छोटे बछड़ोंकी बात कही।

'शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थुः' (भागवत १०। २१। १३)

जो अभी दो–चार दिन पहले पैदा हुए हैं। जिन्होंने कभी संग नहीं किया है और जो मातृस्तन्य–रसके अलावा और किसीसे परिचित नहीं हैं। वे छोटे–छोटे शिशु बछड़े भी श्रीकृष्णके वंशीनाद श्रवणके द्वारा अपने आपको खो देते हैं। यह क्या बात है ? तो श्रीकृष्णकी वह वंशीनादामृत लहरी जब गायोंके कानोंमें प्रवेश करती है तब उनके अन्दर एक नवीन भावका विकास होता है और उससे उनके स्तनोंमें अपने–आप दूधकी धारा प्रबल वेगसे बहने लगती है। साधारण गायोंमें ऐसा होता है कि अपने बछड़ेमें जो उनका वात्सल्य–स्नेह होता है उसके कारण दुग्ध–धारा बहती है। परन्तु वृन्दावनचारिणी इन गायोंमें इस तरहकी बात नहीं देखी जाती है। यह जब श्रीकृष्णके वंशीनादका श्रवण करती हैं, श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं या श्रीकृष्णके अंगका स्पर्श प्राप्त करती हैं तभी उनमें दूध धारित होता है और वे बछड़े अपने स्वभाववश मातृ–स्तनको स्पर्श तो करते हैं; जरा–सा घूसते हैं परंतु बहुत अधिक मात्रामें वे दूध पी नहीं सकते। इसलिये इन बछड़ोंकी भूख तभी मिटती है जब ये गायें भगवान् श्रीकृष्णका संग प्राप्त करके प्रबल वेगसे शत–शत धाराओंके अनुरूप जब दुग्ध धाराएँ बहाती हैं तब वे उसके पान करनेमें लगते हैं। परंतु यहाँ विचित्र बात होती है। कभी मातृस्तन्यसे संतुष्ट न हुए बछड़े आज उनको माताका दूध बहुत बड़े परिमाणमें मिल रहा है, अमृत मिल रहा है। परंतु जब वह वंशीका नाद उन बछड़ोंके कानोंमें जाता है तब वे भी आनन्द–विवश हो जाते हैं। इस प्रकार ये गायें और बछड़े वंशीरवके श्रवणसे आनन्द मुग्ध होकर वंशीधर भगवान् श्यामसुन्दरके मुखकी ओर दृष्टि लगाते हैं। भगवान् श्यामसुन्दरके अनन्त सौन्दर्य–माधुर्य–समुद्र श्रीमुखकमलकी ओर दृष्टि जाते ही उनके हृदयोंके अन्दर भगवान्‌की एक अनुपम–रूप–राशि विकसित हो जाती है और उनमें वे मुग्ध हो जाते हैं। *'विश्रास्तुकला प्रश्रयः'* यह कहा है। वे बछड़े और वे गायें श्रीश्यामसुन्दरको देखते ही, पहली नजर पड़ते ही उनके

हृदयोंमें एक अनुपम रूपराशिका विकास हो जाता है, जिससे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगती है। उनके नयन-द्वार रुद्ध हो जाते हैं।

यह आँसू कई प्रकारके होते हैं। क्रोधमें भी आँसू आते हैं, हर्षमें भी आँसू आते हैं, शोकमें भी आँसू आते हैं, हृदयकी निर्बलतासे भी आँसू आते हैं; कमजोरीमें भी आँसू आने लगते हैं, भयमें भी आँसू आते हैं—पर इन लौकिक आँसुओंका कोई महत्त्व नहीं है परन्तु जो आँसू भगवान्‌के लिये आते हैं, भगवान्‌के स्वरूप—सौन्दर्यको देखकर आते हैं। भगवान्‌के माधुर्यका रस—प्रकाश अन्तःकरणमें होनेपर वह रस जब आँसू बनकर बाहर निकलता है तब उन आँसुओंकी बड़ी महत्ता है। वे आँसू जिन्हें देखकर आ रहे हैं वे उनके हृदयमें मूर्तिमान् होकर दिख रहा है। इसीलिये वे नयन एक हो जाते हैं, आँखें मूँद जाती हैं, कोई आपत्तिकी बात नहीं है। हिन्दीके एक कवि कहते हैं—

नितके जागत मिट गयो वास न सुकुन मिला।
चित्र दर्शन को हूँ लग्यो आँखिन आँसू पाय।।

जब रातभर नींद आती नहीं तो स्वप्न कहाँसे आवे और अगर स्वप्नमें भी आँखें उन्हें देख लेती थी, वह भी बन्द हो गया। और वहीं चित्र सामने आ जाय तो आँखें आँसू बहाने लगती हैं। इसलिये वह चित्र भी नहीं दीखता। यह आँसू हैं भगवान्‌के मिलनके और उनके विरहके, दोनोंमें असीम सुख है। चैतन्य महाप्रभुका अंतिम जीवन १८ वर्ष जो पुरीमें बीता उसमें विशेष अभिव्यक्ति थी प्रेमरसकी कभी-कभी संयोग भी बीचमें होता था। ऐसा कहते हैं कि उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा नहीं निकलती थी, बल्कि आँसुओंके फुहारे निकलते थे। वे किसी पास बैठे हुएको भिगो देते थे। वहाँ एक छोटा कुण्ड था वह आँसुओंके फुहारेसे भर जाता था। इन १६—१८ वर्षोंतककी गम्भीर लीला चली। इस वियोगमें कितना सुख होता होगा हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। यह वियोग-दुःख परम सुखमय होता है क्योंकि यह जगत्‌के सारे स्मरणको भुला देता है और विनाशी, परिवर्तनशील, अनित्य जगत्‌का स्मरण ही प्रतिकूलता लाता है और दुःखको उत्पन्न करता है। यदि जगत्‌का विस्मरण हो जाय मन यदि जगत्‌को छोड़ दे और उस मनमें जगत्‌के स्थानपर भगवान् आ जायँ और वह खुले नेत्रोंसे सामने न दीखनेसे एक बड़ी वेदना हो और उस वेदनामें ही, उस विरहानलमें ही अमृतकी धाराके समान सहसा भगवान्‌का, श्यामसुन्दरका

रूप प्रकट हो जाय तो उस सुखकी क्या सीमा ? वह तो अतुलनीय है।

इसी प्रकार गायोंके आँसू—मिलनानन्दको प्रकट करनेवाले—बाह्यरूपको अन्दर ले जाकर स्थिर कर देनेवाले—बाहर रूप देखा—आँखोंमें आँसू आए—रूप अन्दर गया, आँखें बन्द हो गयीं। अन्दर रूप दीख रहा है और बाहर आँसू आ गये। यह बड़े पवित्र और पावन आँसू—पवित्र करनेवाले आँसू उससे उनके नयनद्वार रुद्ध हो गये तो वे व्रजराजनन्दनको देख नहीं पातीं। अन्दर-अन्दर देखती हैं। उन्होंने जो कानोंको लगा रखा है उन कानों द्वारा वंशी—नादामृतका आस्वादन करती हैं। पहले आया है कि भगवान्‌के उस रूपको उन्होंने देखा नहीं—पीया। उस अमृत-रसको चखा उसका आस्वादन किया और अन्दर भगवान्‌के उस भुवनमोहिनीरूप माधुरीको देख-देखकर परमानन्द रसमें उन्मत्त हुईं। अब यहाँ दो चीज निष्पन्द हो गयी हैं, पर आँसू बह रहे हैं। यह आँसू जो हैं उनका अर्थात् भगवान्‌के रूप-माधुर्यका गायें पान कर रही हैं। आँसू उसका संकेत करते हैं। गायें निष्पन्द हो गयी हैं, उनका हिलना-डुलना बन्द है, पत्थरकी प्रतिमाकी भाँति गायें खड़ी हैं।

एक हमारी देखी हुई बात है कि नासिकमें विष्णु दिगम्बरजी रामायणकी कथा सुना रहे थे तो रोज एक गाय आकर ठीक सामने मंडपके बीचमें खड़ी हो जाती थी, खड़ी रहती थी, बैठती नहीं थी और जरा-सा भी हिलती नहीं थी मानों पत्थरकी मूर्ति और जब कथा समाप्त हो जाती थी तो चुपकेसे चली जाती थी। मैं वहाँ महीने भर था। अपनी आँखोंसे देखा है। तो रसपान जो है वह गायें करती हैं और यहाँ तो साक्षात् भगवान्‌की मुरली-ध्वनि है। मुरली-ध्वनि ही नहीं इसमें तो—भागवतमें इसका प्रत्यक्ष संकेत आया है कि मुरलीके द्वारा भगवान्‌ने दिया क्या ? उन्होंने अधरामृतको सींचा, मुरलीके छिद्रको अधरामृतसे फूँका और वह भगवान्‌का अधरामृत संगीतके रूपमें परिणत होकर मुरलीके आठ छिद्रोंमेंसे किसीके द्वारा, रागके स्वरके अनुसार निकल-निकलकर अपने-अपने भावानुसार सबको सुख देने लगा। सबको अपना आस्वादन कराने लगा। यह जो नादामृत रसका निस्तरण हुआ वह इन गायोंके कानोंमें पहुँचा। इसका जो रस माधुर्य था उसको उन्होंने ग्रहण किया। भगवान्‌के रूपको देखा और मुग्ध हो गयीं—रूप चला गया अन्दर। बाहर रूप कैसे रहता है ? वह बाहर रहता है बिना मनके देखनेपर। यह स्वाभाविक है।

हम सब जानते हैं कि जिस विषयको इन्द्रिय सेवन करती है

उसमें अगर मन साफ रहता है तो वह अन्दर चला जाता है। और यदि मन साफ नहीं रहता है तो देखी हुई, सुनी हुई चीज अन्दर नहीं जाती है। तो गायोंने और जिस किसीने भी भगवान्‌की उस मुरली ध्वनिको सुना तो मनके द्वारा सुना और मन उस ध्वनिको अन्दर ले गया। मनके द्वारा वह ध्वनि अन्दर पहुँची और अन्दर पहुँचकर उस मधुर रसने सारे हृदयको रसमय बना दिया, मधुर बना दिया। गायोंके उस मधुर रसमें, जब संसार नहीं रहा, तो वहाँ श्यामसुन्दर आ गये। ये खाली जगह देखा करते हैं। यह भगवान् ऐसे हैं कि भरी जगहमें रहते हुए भी छिपे रहते हैं। यह खोजते हैं खाली घर और जहाँ इन्हें खाली घर मिला तो घुस गए अन्दर। सुषुप्तिमें भी खाली नहीं रहता। वहाँ भी कोई अहम् बैठा रहता है जो कहता है कि मैं बड़े सुखसे आज सोया। वहाँ भी वह अन्दर बैठा हुआ देखा करता है। इसलिये भगवान् स्वयं नहीं आते हैं पर जब तुरीयावस्था होती है उस समय चित्त खाली हो जाता है। उसमें आनन्दमय भगवान् घुस जाते हैं। समाधि और सुषुप्तिमें क्या भेद है ? यही भेद है कि सुषुप्तिमें अहम् अज्ञानावस्थामें रहता है। वह उस तम, अंधकार, निद्राको देखता है। उसमें सुखकी अनुभूति करता है। चूँकि वहाँ कोई बोलनेवाला और देखनेवाला जो स्वप्नका अधिष्ठात्री देवता है वह है नहीं, इसलिये वह जागनेके बाद स्थूलके मुखसे कहलाता है कि आज बड़े सुखकी नींद आयी। वहाँ वह तम उपस्थित रहता है पर समाधिमें तम नहीं रहता है, खाली रहता है। समाधिका अर्थ ही है मनका विषयोंसे खाली हो जाना। ध्यान और समाधिमें यह अन्तर है कि ध्यानमें चित्त होता है एकाग्र, समाधिमें होता है निरुद्ध। यह निरुद्धावस्था जब किसी भी तात्त्विक अभ्युत्थानको नहीं देती तो वह है भगवत्प्राप्ति। समाधि एक सीमित काल तक रहती है उस समय चित्त निरुद्ध रहता है। उस समाधिके विषयमें, भगवान्‌में, आत्मामें, परमात्मामें, ब्रह्ममें, ज्योतिमें कहीं भी चित्त जाकर निरुद्ध हो जाता है। अन्य कोई विषय नहीं रहता है पर वह निरुद्ध चित्त जब तक यह सीमित समाधि है, जबतक यह बुद्धिजन्य है, वृत्तिजन्य है तबतक उसमें व्युत्थान होता है और व्युत्थानकालमें वह मन जो है फिर वहाँसे लौट आता है, लेकिन जो नित्य समाधि है उसमें भगवान्‌में जाकर चित्त निरुद्ध होकर उसीमें विलीन हो जाना, मनका भगवदाकार स्वरूप धारणकर लेना—सदाके लिये, इसमें लौकिक व्युत्थानावस्था भले ही हो, तात्त्विक व्युत्थानावस्था नहीं होती है। यह जीवनमुक्तावस्था

है। तो मन जब निरुद्ध होता है उस समय मनमें जगत् नहीं रहता है। प्रेमियोंकी बड़ी सुन्दर भाषा और प्रेमियोंके भगवान्‌का स्वभाव—वो कहते हैं कि तुम अकेलेमें रहो तो हम तुम्हारे पास आ जायँगे और जब तुम हमारे पास आओ तो भीड़-भाड़ लेकर मत आओ। अर्थात् वृत्तियोंमें जगत् रहे नहीं। 'मामेकं शरणं व्रज' शरणागतिमें भी जो प्रेमसे बहुत नीचेकी अवस्था है यहाँ भी भगवान्‌का आदेश है—'मामेकं शरणं व्रज' 'एकम्——एकम्'। उसमें भी जो व्यभिचार वृत्ति है। उसमें यदि दूसरेका स्थान है, दूसरी किसी भी शक्तिकी स्मृति है तो वहाँ भी शरणागतिमें एक दोष है, अपूर्णता है। तो शरणागतिके पश्चात जब भगवद्प्रेमका उदय होता है तो इसमें भगवान्‌के लिये चित्त सर्वथा सर्वदा खाली होता है। उस खाली चित्तमें प्रविष्ट होकर भगवान् सदाके लिये उसमें स्थित हो जाते हैं।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु।।

(मानस / अयो० १३१)

जहाँ कहीं दूसरे-दूसरे लोग भी ठहरते हैं और वहीं हम भगवान्‌को कुछ समयके लिये ठहराते हैं वह भगवान्‌का अपना घर नहीं बना। इसलिये भगवान् भी (विनोदकी भाषामें) संशकित रहते हैं कि न मालूम यह कब निकाल दे—मकान मालिक ही कह दे हमें घरकी मरम्मत करानी है। झूठ ही बोल जाय। मन बहुत धोखा देता है। वह बहुत बार कर्तव्यके नामपर, धर्मके नामपर भगवान्‌को हटा देना चाहता है। घर भगवान्‌का जबतक पूरा नहीं हो गया तबतक भगवान् संशकित रहते हैं। इसलिये वो तैयार रहते हैं कि न जाने कब निकलना पड़े। जब तक वहाँ दूसरे भी रहते हैं, तबतक धर्मशालामें टिके हुए यात्रीकी तरहसे वे ठहरते हैं। कुछ काल तक आराम भी पाते हैं और आराम भी देते हैं, वे देखते हैं कि यहाँसे जाना पड़ सकता है। इसलिये वहाँ पूरा नहीं ठहरते। जहाँ सूना घर होता है और प्रेमी कहता है कि यह आपके लिये ही है, वहाँ भगवान् आकर अपना डेरा जमा लेते हैं अर्थात् उसकी तात्त्विक व्युत्थानावस्था नहीं होती है। वह भगवान्‌में नित्य-नित्य समाहित-समाधिस्थ रहता है। भगवान् खाली घर ढूँढ़ते हैं। अन्दरका घर खाली हो। इसलिये भगवान्‌के लिये चित्त खाली कर दें। यह खाली होता है कब ? यह खाली होता है——पूर्वराग होनेपर।

पूर्वराग होता है——अपने प्रेमास्पद भगवान्‌का साक्षात् दर्शन करनेपर,

स्वप्नमें उनके दर्शन होनेपर, चित्तमें उनके दर्शन होनेपर, बन्दीजनोंके द्वारा उनका गुण—सौन्दर्य सुननेपर, उनके नामकी ध्वनि कानोंमें आनेपर, उनके गुणोंका श्रवण करनेपर, दूतियोंके द्वारा उनका वर्णन सुनने पर, उनके अपने द्वारा संदेश भेजनेपर, मुरली—ध्वनि सुननेपर। यह बहुतसे भेद पूर्वरागके हैं। इनमेंसे कोई भी, स्थिति यदि वास्तवमें भगवान्‌के साथ समर्पित हो तो हृदयमें एक मिलनकी अत्यन्त आत्यन्तिक तीव्र उत्कण्ठा पैदा कर देती है। इस उत्कण्ठाका नाम है पूर्वराग—मिलनकी तीव्रतम उत्कण्ठा। सभी आकांक्षाओंको हटाकर, सभी चाहोंको मिटाकर, एक चाह, एक लालसा, एक उत्कण्ठा उत्पन्न होती है जो बड़े तीव्र रूपमें होती है तब यह पूर्वराग प्रेमके रूपमें प्रकट होता है। फिर विप्रलंभ और संयोग इन दो तटोंके बीचसे वह निरन्तर बहने लगता है और फिर उत्तरोत्तर बढ़ता है। इसलिये जबतक यह पूर्वराग नहीं होता तबतक प्रेमके मार्गमें, साधनाके मार्गमें योग्यता नहीं आती है। वेदान्तमें भी पहले कहा श्रवण, फिर मनन, फिर निदिध्यासन—पहले सुने, फिर सुनकर उसे सोचे, विचारे, मनन करे और फिर उसका ध्यान करे। बात एक ही है। पूर्वराग प्रेममें और मुमुक्षत्व ज्ञानमें, होनेके पहले तीन चीजें उसमें हो जाती हैं—विवेक, वैराग्य और षड्सम्पत्तिकी प्राप्ति। इसी प्रकार यहाँ भी जब भगवान्‌को पानेकी अदम्य लालसा जाग उठती है तो वह शान्त-रस पहले आकर उसमें योग्यता ला देता है। फिर वह साधक पूर्वरागके योग्य होता है।

यह पूर्वराग गायोंको प्राप्त हो गया। गायें पशु थीं उनके अन्दर श्रृंगारादिके उद्दीपक भाव व विवेक नहीं थे तथापि माधुर्यके ज्ञानसे, माधुर्यके परिचयसे, उसके संस्पर्शसे उनके हृदयमें पूर्वराग पैदा हुआ। पूर्वरागसे उन्होंने उनसे मिलना चाहा जिससे वे उनकी ओर दौड़ी। दौड़कर सामने आकर नेत्रोंके द्वारा उनको देखा फिर व्रजराजनन्दनसे उनका मिलन हुआ। मिलनानन्दका और अधिक आस्वादन हो इसलिये उनके अन्दर रूप प्रविष्ट हो गया और आभ्यन्तरके नेत्रोंसे व्रजराजनन्दनकी वह भुवनमोहिनी माधुरीको देखकर वे परमानन्द रसमें मत्त हुई—निष्पन्द हो गयीं, निस्तब्ध हो गयीं, और आँसू बहाने लगीं। गायें वात्सल्य प्रेमवती थीं और बाह्यरूपसे यशोदा मैया आदिकी भाँति गोदमें लेकर स्तनपान नहीं करा सकती थीं, तो भी मनकी गोदमें भगवान्‌को बैठाया और परमानन्दमें निमग्न हुई वे अपने-अपने जीवनको धन्य करने लगीं।

परमप्रेमका स्वभाव होता है—मिलन-लालसा। यद्यपि उस दिव्य प्रेममें स्वसुखवांछाका सर्वथा अभाव होनेके कारणसे प्रियतमकी इच्छाके विरुद्ध मिलन वासनाको लेकर प्रेमीका कोई कार्य नहीं होता, पर वहाँ एक बड़ी विचित्र बात होती है। वहाँ अमिलनमें स्वयं भगवान् अपने दिव्य आत्मरूपसे उनके नेत्रोंके सामने उनके मनमें आकर विप्रलम्भमें सम्भोगके संयोगकी अनुभूति करा देते हैं। लेकिन यह मिलन-लालसा दिव्य प्रेमका स्वभाव है।

श्रीगोपांगनाओंमें तो पूर्वराग पूर्णरूपसे जाग्रत् है इसलिये यह पूर्वराग स्वाभाविक मिलन-लालसासे व्याकुल होकर, श्रीकृष्णके साथ जिसका जो भी जरा-सा भी संबंध देखता है उसपर ध्यान देता है कि उसको संग प्राप्त हो रहा है या नहीं ? प्रेममें संग प्राप्त करनेकी अत्यन्त व्याकुलता है। वह प्रेम गोपनीयताको पसंद करता है। प्रेमका स्वभाव रहस्यमय है, गोपनप्रिय है। तो जिसको जिस प्रकारका संग प्राप्त हो रहा है, उसके भाग्यकी सराहना करती हुई उसके आदर्श प्रेमका वर्णन करती हुई श्रीगोपांगनाएँ अपनेको भाग्यहीना बताती और मानती हुई अपने अन्दरकी लालसाको प्रकारान्तरसे प्रकट कर रही हैं। इस वंशीरव-श्रवणजनित भावावेशके कारण गायें निस्पन्द हो गयी हैं और आँखोंसे आँसू बह रहे हैं तथा कान खड़े हैं। वे चुपचाप खड़ी हैं। हजारों गायें और बछड़े श्यामसुन्दरको घेरे खड़े हैं और यह घेरना बड़ा विचित्र। जैसे वन-भोजनके समय प्रत्येक बालकके सामने श्रीकृष्णका मुख था इसी प्रकार यहाँ भी प्रत्येक गायके सामने श्यामसुन्दरका मुख है। इस प्रकारके भावकी स्थितिको देखकर श्रीगोपांगनाओंने समझा कि इन गायोंका ही जन्म सार्थक है, सफल है क्योंकि यह गायें वंशीरव श्रवण करते ही अपने आपको भूल गयी और अपनी-अपनी भोज्य वस्तुका त्याग कर दिया। तृण चरने वनमें गयी थीं, तृण चरना छोड़ दिया। आधे चबाये हुए घास उनके मुखमें रह गये वैसे-के-वैसे। चबाना बन्द हो गया। जुगाली करना बन्द हो गया। बछड़ोंके मुखसे वह दुग्धका ग्रास बाहर निकल पड़ा। देहकी स्मृति नहीं रही। इस प्रकार वंशीरवके श्रवणसे ही देहकी स्मृति भी भुला देना और देहके आवेशसे अपने-आपको मुक्त कर लेना यह तो बस इन गायोंके वशमें है। हमलोग तो इस घरके बन्धनसे ही छुटकारा नहीं पा सकतीं। हमारी ऐसी शक्ति नहीं कि इन गायोंकी भाँति वंशीरवका श्रवण करते ही लज्जा, मान, धैर्य, कुल-शील, भय, विषादका परित्याग करके उन श्रीकृष्णके चरणोंमें जा पहुँचे और वंशीरव-माधुर्य-सिन्धुमें

डूब जायँ। यह गायें तो डूब गयी हैं। इसलिये ये अवश्य भाग्यवती हैं जो माधुर्य–सिन्धुमें डूब गयीं। ऐश्वर्य–सिन्धुमें जो भक्त डूबता है तो उस ऐश्वर्यकी जो स्मृति है वह ऐश्वर्यकी लालसा उत्पन्न कर देती है और माधुर्य मिठास देती है। ऐश्वर्य तो मिलनेपर सुख देता है और माधुर्य तो वैसे भी सुख ही देता है। भगवान्‌का वंशी–निनाद माधुर्यका सिन्धु है। यह सरोवर या नदी नहीं है। यह तो असीमित महासमुद्र है। इस महासमुद्रमें ये गायें अपनेको खोकर निमग्न हो गयीं तो हम भी यदि पशु होतीं, गायें होतीं तो राव छोड़कर भाग जातीं। भगवान्‌ने गायोंको पैदाकर बड़ा अच्छा किया जिनमें कुल, शील, मान पहले ही नहीं रखा।

उनमें जो धैर्य था उसे वंशी–निनादने खो दिया। उनमें भय था, भय को खो दिया। कुल–शील, मान तो उनमें था नहीं। भय था और धैर्य था इन दोनोंको वंशीनादने खो दिया। लेकिन हम लोग तो यहीं बैठी बात कर रहीं हैं। कानोंके द्वारा तो यह वंशीरव सुन भी रहीं हैं। परन्तु हमारे घरका और देहका जो आवेश है वह ज्योंका त्यों बना है। न हमने घरको भुलाया न देहको भुलाया। हम देह–गेहके आवेशमें अकारण डूबी हुई हैं। और वंशीध्वनि श्रवण करती हुई भी हम बड़ी अभागिनी कि उसे भूलकर जी रहीं हैं। वे मनमें बड़ा भारी पश्चात्ताप प्रकट करती हुई कहती हैं कि हमारा जीवन तो व्यर्थ है। यह गायें और बछड़े हमलोगोंसे करोड़ों–करोड़ों गुना श्रेष्ठ हो गये हैं; क्योंकि उनकी यह दशा हो गयी है। जगत्‌में श्रीकृष्णके सम्बन्धकी गन्ध–लेशमात्रसे जो सबकुछ भूल जाता है वही धन्य है। जिसके साथ, जिसके जीवनके साथ श्रीकृष्णके किसी अंगका स्पर्श हो जाता है उनकी यह मधुर वंशी–ध्वनि भी उनका एक अंग है। उनके मस्तकपर रहनेवाला मयूर–पिच्छ भी उनका एक अंग बन जाती है। उनके हाथमें नित्य क्रीडा करनेवाली मुरली भी उनका एक अंग है और उनकी चरण रज भी उनका एक अंग है। तो उनके किसी भी अंगका स्पर्श जिसके जीवनमें प्राप्त हो जाय और वह सम्बन्धको जगा दे तो उसके समान धन्य और कोई नहीं है।

संसारमें वैभव, संसारके पद–अधिकार, ऊँची जाति, उच्च वर्ण, अधिक शिक्षा, बहुत ऊँचा ज्ञान–विज्ञान, बहुत ऊँचा रूप–सौन्दर्य, समृद्धि, कीर्ति–यश जिनको प्राप्त है, पर भगवान्‌के किसी अंगके साथ उनका सम्पर्क नहीं है तो वह सारा व्यर्थ ही नहीं होता, बल्कि अनर्थरूप होता है। उससे अभिमान,

मद पैदा होता है। उससे पाप पैदा होते हैं और वह अनन्तकाल तक भगवान्‌से विमुख रखता है—जीवकी चित्त-वृत्तिको। इसलिये वह सबका सब त्याज्य है। गोपियाँ कहती हैं कि हमलोग उसी घरमें मोह करके बैठी हैं। उसी देहमें हमलोग आसक्ति करके बैठी हैं। हमलोगोंका जीवन सचमुच व्यर्थ है। जीवन तो उन्हींका धन्य है। इसके बाद ही गोवत्सोंकी बात कहते-कहते वे अपने-आपको भूल गयीं और उन्हें गोवत्सोंके सौभाग्यकी बात दिखायी दी। फिर वे कहने लगीं—इन पक्षियोंको तो देखो। पक्षी सामने आ गये।

मुनियोंका नादश्रवण और नदियों द्वारा कमलोपहार अर्पण

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः।।

(भागवत १०। २१। १४)

वृन्दावनमें जो पक्षी और पशु निवास करते हैं वे सभी मुनि हैं। '**आत्मारामाश्च मुनयः**' यह सब मुनि हैं। और ये विचित्र-विचित्र पल्लव-अंकुर, कुसुमोंसे सुशोभित वृक्षोंपर रहकर उनकी शाखाओंपर बैठे और निर्बाध रूपसे नेत्रोंसे देख रहे हैं श्यामसुन्दरके रूप-सौन्दर्यको। ये ऊँचे बैठे हैं। भगवान्‌ने इनको पंख दे दिये हैं। यहाँसे नहीं दीखे तो उड़कर दूसरी जगह बैठ गये। निर्बाध दर्शन कर रहे हैं। दूसरे तमाम-तमाम शब्दोंका श्रवण करना छोड़कर वंशीनादके श्रवणमें निमग्न हो रहे हैं। अर्धनिमीलित नेत्रोंसे '**शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः**' भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका पान कर रहे हैं। इनका बड़ा सौभाग्य है।

भगवान् श्यामसुन्दर वेणुनिनाद कर रहे हैं। वृन्दावनकी परम शोभामयी, परमरम्य वनभूमिमें भगवान्‌के शुभ आगमनका संकेत पाकर प्रकृतिदेवीने सब तरहसे उसे सुसज्जित कर दिया है। नाना प्रकारके अन्यान्य ऋतुओंमें होनेवाले पुष्प स्वाभाविक ही शरद-ऋतुमें विकसित हो गये। सरोवरों और नदियोंमें हजारों-हजारों विचित्र वर्णोंके कमल खिल गये और यह गन्धवाह पवन उन कमलोंकी सुन्दर सुगन्धको लेकर तमाम वनमें बिखेरने लगा। प्रकृति देवीका

आज अपने स्वामीके स्वागतार्थ, जब वे स्वयं ही वहाँ वन-शोभा देखनेके लिये पधार रहे हैं, तो वनको शोभासे सम्पन्न कर देना स्वाभाविक ही है।

बड़ा ही उत्साह हुआ तो श्रीगोपांगनाओंने इस वेणुनादको सुना। अपने-अपने घरोंमें सुनते ही उनके अन्दर, उनके हृदयोंमें भावका आविर्भाव हो गया। मिलनेच्छा बड़ी प्रबल हो गयी। पर प्रेमका स्वभाव बड़ा गोपनीय रहता है। इसलिये अन्दरके भावोंका गोपन करती हुई वे व्रजांगनाएं अपने-अपने सखियोंसे मनकी बात कहने लगीं। भगवान्‌की मुरली-ध्वनिके माधुर्यका वर्णन करते हुए जिस स्थितिमें अपनेको पाया उसीमें वे विह्वल हो गयीं। अचेतन-सी हो गयीं और उसी अवस्थामें भगवान्‌का वह नटवर-वपु उनके सामने प्रकट हो आया। उन्होंने उसको देखा। उसके बाद कुछ देर धैर्य धारण करनेपर जब बोलने योग्य हुईं तो बोले बिना रहा नहीं गया। फिर कहने लगीं—पहले वेणुकी प्रशंसा की। इसके बाद वनभूमिकी, मयूरोंकी, पक्षियोंकी, देववधुओंकी, गायोंकी, वत्सोंकी—इन सबकी प्रशंसा की। मानो वे उन सबके सौभाग्यका वर्णन करनेके व्याजसे अपने मनोभावोंको प्रकट कर रही हैं और यह बतला रही हैं कि श्रीकृष्णके साथ, उनके किसी भी अंगके साथ, जिस किसी भी स्थावर-जंगम, चराचरका सम्बन्ध हो जाता है वही सौभाग्यशाली है। जिस भूमिपर उनके चरण टिके वह भूमि सौभाग्यशाली। जिस वायुमें उन्होंने विश्राम किया, जिस जलको उन्होंने पिया—वे सभी भाग्यशाली। जिस किसीके साथ जैसे भी मानस या शारीरिक कैसा भी सम्बन्ध हो गया उसके सौभाग्यका कोई ठिकाना नहीं। इन सबके सौभाग्यका वर्णन करते हुए वे अपनेको अभागिनी बता रही हैं कि हम लोग तो घरोंमें बैठी इन सबके सौभाग्यको देख रही हैं, पर जा नहीं पा रही हैं।

गायों और वत्सोंका जो वंशीनादका श्रवण करके आनन्दके आवेशमें अपने-अपने देहकी स्मृतिको भुलाकर भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके मुखकी ओर आँख लगाये हुए—फिर उन भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यको अन्दर ले जाकर उन्होंने आँखोंपर भी आँसुओंका परदा डाल लिया। गोवत्सोंके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह होने लगा। इसलिये बाहरी दर्शन बन्द हो गये। अन्दरके भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका दर्शन पाने लगे और कानोंको मानो दोना बनाये हुए ऊपरको उठाये 'कर्णपुटै' खड़े हैं सब। इस प्रकार उनके भावोंका स्मरण करके कृष्णानुरागिणी, महाभाग्यवती, प्रेमरसमयी व्रजरमणियाँ भावावेशमें अपनी सुधि भूल गयीं। उसके बाद जब कुछ होश आया, कुछ भावका आवेश-संवरण हुआ, तब

वे लम्बी श्वास लेती हुई बोलीं, 'सखियों ! गायों और इन गोवत्सोंके सौभाग्यका वर्णन करना असम्भव है। श्रीकृष्ण स्वयं उनका पालन करते हैं। उनकी देहपर अपना कोमल हाथ फिराते हैं। मार्जन करते हैं। उनकी धूलको झाड़ते हैं। उनको तृण और जल आदि देते हैं और किसी-किसी समय उनके गलोंको पकड़कर झूलने लगते हैं। गायोंका क्या महत्त्व कहा जाय ? उनके स्तनोंमें अपना मुख लगाकर स्तन्य-दुग्धपान करने लगते हैं, किंतु हम लोग इस सौभाग्यको नहीं प्राप्त कर सकीं।' यहाँपर इस श्लोकमें 'अम्ब' शब्द आया है। कोई बड़े आश्चर्यकी बात होती है तो 'अरे माई ! क्या हो गया' कहते हैं। यह 'माँ' शब्द जो है, यह अनायास निकल जाता है मुँहसे। तो व्रजरमणियोंके इस वंशीनाद-श्रवणके प्रसंगमें 'माँ' शब्द आनेका कोई प्रयोजन नहीं है किंतु **'प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो।'** यहाँ 'माँ' शब्द आ गया तो यह उनके आश्चर्यका द्योतक है।

इस तरह व्रजरमणियाँ कहने लगीं कि यह गायें तो साथ रहती हैं, पर इन पक्षियोंका क्या सौभाग्य है, इनके व्यवहारको देखनेपर आश्चर्य होता है। 'मुनि' शब्दके दो अर्थ होते हैं एक-पक्षी और दूसरे—आत्मामें रमण करनेवाले, आत्माराम मुनि जो निर्ग्रन्थि हो गये हैं, जिनकी गाठें कट गयी हैं। ऐसे मुनि भी भगवान्‌के गुणोंसे आकर्षित होकर अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं। इसलिये गोपियोंने मनमें यह समझा कि ये मामूली पक्षी नहीं हैं। यह तो बस आत्मारामगण है। ये निरन्तर श्रीकृष्णके मननका आनन्द लेने वाले हैं। मनन करनेवालेको भी मुनि कहते हैं। श्रीकृष्णका मनन ही जिनके जीवनका कार्य हो गया है। श्रीकृष्ण जब वनभूमिमें उपस्थित हुए तब मयूरोंने वहाँ इकट्ठे होकर अपनी-अपनी पूँछें फैलाकर नाचना शुरू किया और शुक-पिकादि, तोता-मैना आदिने अपने कलकण्ठसे गान आरम्भ किया। श्रीकृष्ण-दर्शनसे ही जिनकी रग-रग नाच उठे, जिनका जीवन संगीतमय हो जाय; उनके जीवनका नृत्य और संगीत उसके आनन्दको प्रकट करता है।

जिसका जीवन आनन्दसे नाच उठता हो या जिनके जीवनसे मधुर संगीतकी ध्वनि निकलती हो वे ही वास्तवमें आनन्दमें डूबे हुए हैं। ऐसे कौन होते हैं ? जो भक्त होते हैं वही। भगवान्‌के प्रति प्रेमको छोड़कर विषयासक्त पुरुष चाहे वह कितना ही अधिक संसारके भोगोंको, विषयोंको प्राप्त कर ले, कितना ही वह अधिकार, पद, वैभव, ऐश्वर्य भोगनेवाला बन जाय पर उसके

जीवनसे संगीत नहीं निकलता, उसके जीवनसे ध्वनि निकलती है निरन्तर विषादकी और भयकी; जो है वह चला न जाय और चले जानेपर रोना।

'भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च' सहस्रों—सहस्रों भयके स्थान और सैकड़ों—सैकड़ों शोकके स्थान हैं। उन बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे वैभवशालियोंके, अधिकारियोंके, राजाओंके, सम्राटोंके, देवताओंके, विद्वानोंके—सबके जीवनमेंसे कराहनेकी ध्वनि निकलती है, संगीत नहीं निकलता है, दूसरोंको जलानेवालेके राग-द्वेष उनके अन्दरसे प्रकट होते हैं, जो स्वयं उनको जलाते रहते हैं। जब यह मनुष्य विषयासक्तिसे छूटकर भगवान्‌के चरणोंमें आसक्ति कर पाता है और वह आसक्ति जब प्रगाढ़ हो जाती है तभी उसका जीवन संगीतमय, नृत्यमय होता है। अब यहाँपर और भी बहुत कुछ विचार किया श्रीगोपांगनाओंने कि सभी सिद्ध मुनि नृत्य-गीत परायण नहीं होते हैं। योगी, ऋषि, ध्यानी, संन्यासी, मुनि—जितने भी साधक और सिद्ध होते हैं सभी नृत्य-गीत आदिसे विरक्त होते हैं। इनको वे इन्द्रियोंके आकर्षक विषय मानते हैं और यह है भी सत्य। नृत्य-गीत बड़ी अच्छी चीज होनेपर भी बड़ी मोहक है। इन्द्रियोंको और मनको खींचकर नीचे गिरानेवाली बन जाती है। इसलिये यह जो ज्ञानके साधक हैं और सिद्ध महात्मा हैं, वे नृत्य-गीतका विरोध करते हैं। पहले साधक लोग अपने साधनकी सम्पन्नताके लिये और सिद्ध लोग अपने पूर्वाभ्यासको लेकर नृत्यगीतका हमेशा विरोध करते थे और उनका विरोध करना सार्थक है, उचित है। जो लोग अपनेको बचाना चाहते हैं, उनको भी नृत्य और संगीतसे बचना चाहिये।

जो श्रीकृष्ण प्रेमी लोग हैं वे विषयोंसे तो विरक्त हो चुके होते हैं। यह नियम है कि विषयासक्त पुरुष भगवान्‌में आसक्त नहीं हो सकता है। भगवान्‌की आसक्ति और विषयासक्ति दोनों साथ-साथ वैसे ही नहीं चल सकती जैसे रात्रि और सूर्य। अगर सूर्य है तो रात्रि नहीं है और रात्रि है तो सूर्य नहीं है। इसी प्रकार जहाँ भोगासक्ति है वहाँ भगवत्प्रति नहीं है और जहाँ भगवान्‌में अनुरक्ति है वहाँ विषयासक्तिका नाम ही नहीं। इसलिये भक्तचूड़ामणि प्रेमी लोग तो विषयासक्त होते ही नहीं। उनकी यह आसक्ति बहुत पहले समाप्त हो जाती है, जबसे प्रेमका अंकुर पैदा होता है।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।

कहा है कि जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें वर्तमान

है, तबतक प्रेमके अंकुरका उदय नहीं होता है। जब भगवत्प्रेमका अंकुरोद्गम होता है (अभी वह पल्लवित, पुष्पित, फलित नहीं हुआ केवल अंकुर है) तभी विषयासक्ति नष्ट हो जाती है। फिर उनका काम क्या रहता है उन प्रेमियोंका काम है अपने प्रेमास्पद भगवान्‌को सुख पहुँचाना। उनको रस देना। यह विचित्रता है। प्रेम ही एक प्रकारका विलक्षण दिव्य रस है जो रसमें भी रस–लालसा पैदा कर देता है। 'रसो वै सः' रस भगवान् ही है और कोई नहीं। इस रसमें रस–पिपासा उत्पन्न कर देता है प्रेम। प्रेमरसका आस्वादन करनेवालेके लिये भगवान् स्वयं कहीं–कहीं प्रेमीको प्रेमास्पद बना लेते हैं और स्वयं प्रेमी बन जाते हैं। जिनमें श्रीकृष्ण–सुखकी लालसा है उनके जीवनका एकमात्र स्वभाव होता है––स्वरूप होता है, अपने प्रत्येक अंगसे, प्रत्येक शब्दसे, प्रत्येक कलासे, प्रत्येक भावसे केवल और केवल श्रीश्यामसुन्दर अपने प्रियतमको सुख पहुँचाना। इसके लिये वे स्वाभाविक, सहज, अभिमानशून्य, अहंकाररहित प्रयत्न करते रहते हैं। उनके जीवनमें जो कुछ होता है, वह श्रीकृष्णके सुखका साधन होता है। इसलिये वे जब श्रीकृष्णका दर्शन पाते हैं या उनके स्मरणादिजनित आनन्द–रसमें जब मत्त होते हैं तो उनको सुखी करनेके लिये वे स्वयं उस रसमें आप्लावित हो जानेके कारण नृत्य–गीत आदि करने लगते हैं।

इसलिये ये मयूर जो नाचने लगे, शुक–पिक जो गाने लगे इनके इस संगीत नृत्यादिको देखकर यह अनुमान होता है कि ये सब प्रेमी मुनि लोग हैं। अतः इनको यहाँ पक्षी न कहकर मुनि कहा जाय। शुकदेवजी स्वयं मुनि हैं और वे 'मुनि' शब्दका प्रयोग करते हैं––यहाँके विहंगमोंके लिये। इससे मालूम पड़ता है कि यहाँके जो पक्षी हैं वे मुनिधर्मावलम्बी हैं। क्योंकि वे भगवान्‌के वेणुनादको सुनकर, यदि प्रेमी न होते तो प्रेमियोंके स्वभावके अनुकूल क्यों नाचने–गाने लगते पर इसमें कुछ वे भी लोग थे जो ज्ञान सम्पन्न थे। परंतु भगवान्‌का वेणुनाद और उनका स्वरूप–सौन्दर्य 'इत्थं भूतगुणो हरिः' ऐसा आकर्षक है जिससे बड़े–बड़े अमलात्मा, विमलात्मा भी नाच उठते हैं। जो अबतक अपने–आपको नृत्यगीतसे हटाकर मौनावस्थामें ध्यान करनेमें लगे थे, ऐसे पक्षीरूप मुनियोंके कानोंमें जब वह वंशीध्वनि गयी, भगवान्‌का अधरामृत वंशी निनादके रूपमें पहुँचा, तो इनसे भी रहा न गया। भगवान्‌में ऐसे गुण हैं जो उन मुनियोंके चित्तोंको भी हर लिया तथा उनका ध्यान भंग हो गया और वे अपने–अपने स्थानोंको छोड़कर उड़े

और तत्काल श्रीकृष्णके समीप आ बैठे।

वहाँ पहले ही सारी वृक्षावली हरी-भरी हो गयी थी क्योंकि उनपर वेणुनादामृतका सींचन हुआ था। ध्यानस्थ मुनि रूपी पक्षी वंशीनादामृतके सिंचनसे पल्लवित सुरभित वृक्षोंपर आकर बैठे, जिससे पत्र-पुष्पादिकी आड़से श्रीकृष्णको भली-भाँति देख सके और श्रीकृष्णकी दृष्टि भी उधर आवे इस तरह बीच-बीचमें जगह देखकरके पल्लवादि-समन्वित शाखाओं पर वे बैठे। वहाँ उन लोगोंको पत्र-पुष्पादि विहीन कोई वृक्ष दिखाई नहीं दिया। इन्होंने सोचा कि भगवान्‌का दर्शन करनेको एकान्त मन चाहिये और दूसरा देखनेवाला भी वहाँ न रहे। अगर वहाँ सूखे पेड़ होते भी तो वहाँ बैठनेपर सभी लोग देखते जिससे देखनेका एकान्त नहीं मिलता, क्योंकि भगवान्‌को देखनेवालेका मन एकान्त होना चाहिये, भगवान्‌को देखनेवालेका स्थान एकान्त होना चाहिये तथा उसकी बुद्धि और मन एकान्त होना चाहिये। जहाँ भीड़-भाड़ रहती है—बुद्धिमें, मनमें, स्थानमें, क्रियामें भीड़ रहती है अथवा मनमें बहुतसे संकल्प आ गये, मनमें भीड़ हो गयी, बुद्धि बहुत शाखावाली हो गयी वहाँ भगवान्‌का दर्शन दुर्लभ है।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

(गीता २। ४१)

अव्यवसायी बुद्धि जो भगवान्‌में निश्चयात्मिका होकर नहीं लग गयी वह बुद्धि बहुत शाखा वाली होती है। इसलिये बुद्धि एकान्त हो, शरीर एकान्त हो, मन एकान्त हो, विचार एकान्त हो, क्रिया भी एकान्त हो—इन सबकी साधकको जरूरत है। भगवान्‌को किसीको देखना हो तो भीड़-भाड़का साथ छोड़ दे। बाहरी और भीतरी दोनों। वह कभी-कभी मोहसे समझ लेता है कि सामूहिक काम करना है। साधना सामूहिक नहीं हुआ करती है। यह नियम है। इसलिये हमारे यहाँ गुरु-परम्परा अलग-अलग है और गुरु-परम्परामें मन्त्र एकसे नहीं हैं। कौन-सा अधिकारी किस मन्त्रका साधन कर सकता है, इसका विचार किया जाता है। उग्र देवता भी हैं और सौम्य देवता भी हैं। इसलिये अधिकार-भेदसे ही कार्य होता है। यह राजदरबार नहीं है कि सब तरहके लोग आकरके बैठें। साधना एकान्तकी वस्तु है।

यहाँ साधनाका संकेत है; क्योंकि यह मुनि जो ठहरे। पहले ध्यान, साधना कर चुके हैं। एकान्तवास कर चुके हैं इनको अभ्यास है। आज यह मुनि पक्षी बने हुए हैं तो क्या हुआ। इन्होंने सोचा कि अलग बैठकर

देखना—सुनना ही ठीक, दूसरे न देख पायें इसलिये जहाँपर, जिन वृक्षोंपर घने पत्र—पुष्पादि थे, जहाँ उनकी आँख सिर्फ एक ही चीज देख सके वहाँ वे जाकर बैठे। एक बात उनके मनमें और आयी, वह यह कि वंशीनाद सुनकर गायें पत्थरकी मूर्ति—सी बन गयीं और यह विमानोंपर दूर—दूरतक आकाशमें विराजित देवबधुएँ मूर्छित होकर गिर पड़ीं। इसलिये वंशीमें ही कोई जादू है, और कहीं नहीं। हम भी अपनेको ऐसे भूल जायँ और गिरने लगें तो पत्तोंका घेरा हमें बचा लेगा। इसलिये पतनाशंकासे भी वे वहाँ एकान्तमें घने—घने पत्तोंके बीच अपनेको छिपाकर बैठे। जैसे मुनि घासकी कुटिया बनाते है तृणपर्णादि आच्छादित। उसी प्रकार उन्होंने तृण—पल्लवादिसे आच्छादित कुटियाकी भाँति वृक्षोंकी शाखाओंपर अपना स्थान निश्चित किया और श्रीकृष्णके वंशीनादके श्रवणसे परमानन्दमें निमग्न हुए। सुननेमें उनका मुनिपनका अभ्यास था ही और दूसरे जो ध्वनि यहाँपर आ रही थी वह और भी अन्दरके ध्यानको मिटा देनेवाली थी। उस ध्वनिमें उनका मन रम गया। उन्होंने स्वाभाविक ही आँखोंको पूरा खुला नहीं रखा। 'अर्धनिमीलित नेत्र मुखे' श्रीकृष्णके वेणुनादको सुनकर और उसके भावावेशमें वे अपने—आपको विस्मृतकर, देह और दैहीके सारे विषयोंको भूलकर; उनका मन ऐसा रमा कि उनके लिये जगत्में वंशी निनादके सिवाय कुछ रहा ही नहीं। केवल वंशी—निनाद रह गया। आकाशमें, व्योममें, पातालमें, पृथ्वीपर हर जगह वंशी—निनाद छा गया। एक तो उनका मन उदास दूसरे नयनोंको मूँदे रखना, तीसरे मौन और स्थिर भावसे वहाँ बैठना—यह सब—के—सब पक्षियोंके मुनि धर्मके आचरण हैं। इससे मालूम पड़ता है कि वृन्दावनके सारे पक्षी प्रायः मुनि धर्मावलम्बी ही हैं।

तीन प्रकारके मुनि पाये गये हैं। १—ज्ञानी, २—योगी, ३—प्रेमी। जो ब्रह्म मननशील है वे ज्ञानी मुनि हैं। जो अन्तर्यामी पुरुष परमात्माका ध्यान करते हैं वे योगी मुनि है तथा जो भगवत् मनन—शील है, जो भगवान्के रूप, गुण, सौन्दर्य, माधुर्यका निरन्तर मनन करते हैं वे प्रेमी मुनि हैं। ये तीनों प्रकारके मुनि किसी भिन्न परमात्माका मनन करते हों, ऐसी बात नहीं है। परमात्मा, भगवान् और ब्रह्म एक ही चीज है। 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानेति शब्द्यते' (भागवत १। २। ११) यह भागवतमें आया है। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीन शब्दों द्वारा भगवान्का भजन होता है। ज्ञानी लोग ब्रह्मके रूपमें योगी लोग परमात्माके रूपमें और प्रेमी लोग भगवान्के रूपमें भगवान्का भजन

करते हैं। यहाँ जो मुनि थे वे तीसरे प्रकारके भगवत्–मननशील मुनि थे।

न यह देह है न यह ब्रह्मवृक्ष है, अपितु ब्रह्मवृक्षकी जिस शाखापर बैठनेसे सच्चिदानन्दघनविग्रह, मंगलमयविग्रह, चिदानन्दमूर्ति भगवत्–स्वरूपके दर्शन होते हैं, उनकी लीलाके दर्शन होते हैं, उनकी कृपा दृष्टि अपने ऊपर पड़ती है वे भक्त उसी शाखाका आश्रय ग्रहण करते हैं। वेदकी विभिन्न शाखाएँ हैं। वेद कल्पकी जिस शाखाको ग्रहण करनेसे सच्चिदानन्दविग्रह प्रेम–स्वरूप श्रीभगवान्‌के विचित्र सौन्दर्य–माधुर्यके दर्शन होते हैं और उनकी मधुर–मनोहर लीलाओंकी स्फूर्ति होती है, लीलाएँ सामने प्रकट होती हैं और उनकी कृपा दृष्टिका लाभ होता है वे प्रेमी मुनि उसी शाखाका बड़े आग्रहके साथ समाश्रयण करते हैं और उसी शाखाके वे विचित्र पल्लव, अंकुर आदि जो स्थानीय भक्तिके अंग हैं उन्हीं अंगोंकी उस कर्मावलीको, उस कायाको जीवनका सार समझकर अवलम्बन करते हैं। दूसरे सभी अच्छे हैं। किसीसे विरोध नहीं। तुलसीदासजीने राम नामके सम्बन्धमें कहा है—

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मेरो तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।

औरोंके लिये सब ठीक,

'करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो 'सावनके अंधे' ज्यों सूझत हरो हरो।

इस प्रकारसे किसीके साथ विरोध करने नहीं जाते। वे भगवत्प्रेमी सब ज्ञानी पक्षियोंसे, ज्ञानी मुनियोंसे, योगियोंसे लड़ते नहीं। ज्ञानी मुनि और योगी मुनि अपनी–अपनी डालोंपर अपनी–अपनी शाखाओंपर बैठे अपने–अपने विधानके अनुसार मंगलमय भगवान्‌का स्मरण, चिन्तन, आराधन कर रहे हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी पहले तो इस प्रकारके थे—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन।।

जब श्रीकृष्णके द्वारा उनका मानस सदाके लिये चुरा लिया गया, तब उनकी अनुभूति इस प्रकार रही—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं,
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तुते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं,
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महोधावति।।

उन्होंने कहा--जो ब्रह्मका ध्यान करे तो बहुत अच्छा, जो ज्योति दर्शन करना चाहे तो करें, कोई विरोध नहीं पर मुझे तो यह यमुनाजीके तटपर जो नीला-नीला तेज फुदकता रहता है, उसीको पाना है।

ये जो भगवत्मननशील मुनि हैं जो पल्लव, अंकुर, पुष्पादिसे घिरे हुए, उनकी सहायता लेकर दूसरेकी आँखसे बच रहे हैं। अन्य साधनोंसे और अन्य लोगोंसे बचे हुए—इन साधनोंके द्वारा वे अपनेको बचाते हैं—भगवान्के मुरली-निनादका श्रवण करके अपनेको धन्य मान रहे हैं। जो भगवत-रसिक हैं उनके सुननेकी चीज क्या रहती है ? उनके कानमें दूसरी कोई चीज न पड़ जाय, इसलिये वे अपने कानोंको नित्य-निरन्तर ऐसे शब्दोंको सुननेमें लगाये रखते हैं, जिससे उन्हीं शब्दोंका निरन्तर अंदर प्रवेश होता रहे। भगवान्की लीलाको छोड़कर, भगवन्नामको छोड़कर, भगवान्के स्वरूप-सौन्दर्यकी चर्चाको छोड़करके दूसरे किसी विषयको सुननेमें अपना समय नहीं लगाते। **'श्रवनन और कथा नहिं सुनिहौं'** कानोंसे दूसरी बात सुनूँगा ही नहीं—यह तुलसीदासजीने प्रतिज्ञा कर ली। इस प्रकार मुनिरूपी पक्षीगण वहाँ अपने शरीरको स्थिर करके सारे बैठ गये, दूसरे विषयोंसे कान हटाकर। अन्य विषयोंमें जो रस मनुष्यको आता है वह भगवत्प्रेमकी कमीसे आता है। जिस विषयमें मनुष्यकी अधिक आसक्ति होती है, उसकी बात सुननेमें मनुष्यको बड़ा सुख मिलता है और जिससे चित्तकी अनासक्ति होती है, वह चाहे बढ़िया-से-बढ़िया विषय हो पर उधर मन नहीं जाता। वह चाहे उसके लाभकी चीज हो पर उसकी अपेक्षा किसी दूसरे विषयमें चाहे वह विषय अच्छा न हो पर उसका मन रम रहा है। सबसे अधिक मन लगता है पर-निन्दा, पर-चर्चा सुननेमें। यह सुननेमें जिनका मन लगता है वे लोग घरका काम भी भूल जाते हैं। कुछ लोग बोलते हैं हम तो सबकी समालोचना करते हैं। हम तो दूसरोंके दोषोंको निकालनेके लिये, उनकी सहायता करनेके लिये, उनको निर्दोष बनानेके लिये उनकी आलोचना करते व सुनते हैं। यह तो हम दूसरोंका उपकार कर रहे हैं। इस प्रकारकी बुद्धि उनकी बन जाती है। 'दोषमें गुण-बुद्धि' यह बुद्धिका जो विपर्यय है, यह उनके बुद्धिकी तमसाछन्नताको प्रकट करता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।

(गीता १८। ३२)

भगवान्‌ने कहा कि जहाँ तामसी बुद्धि होती है वहाँ सभी चीजोंका निर्णय बुद्धि उलटा करती है। वह अधर्मको धर्म बताती है। त्याज्यको ग्राह्य बताती है। पुण्यको पाप बताती है। पापको पुण्य बताती है। 'सर्वार्थान्विपरीता' सारे विषयोंको उल्टा बताती है। इसलिये भगवान्‌को छोड़कर मनुष्यका मन सारे विषयोंमें रमता है। कौनसी ऐसी चीज है जिसकी भगवान्‌से तुलना की जाय ? जैसे प्रकाशसे अन्धकारकी तुलना नहीं होती है इसी प्रकार विषयोंके साथ, भोगोंके साथ, किसी सांसारिक प्रपञ्चके साथ, भगवान्‌के सौन्दर्य—माधुर्य, ऐश्वर्यकी तुलना नहीं हो सकती। उस ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्यको छोड़कर मनुष्यका मन दुःखोत्पादक विषयोंमें लगता है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌में इनका अनुराग है ही नहीं।

यह व्रजके पक्षी भगवत्मननशील मुनियोंकी भाँति श्रीकृष्णके दर्शन करते हुए वृक्षकी शाखाओंका आश्रय लेकर, सर्वत्यागकर, श्रीकृष्णके वंशीनाद श्रवण और श्रीकृष्णके मनन प्रसंगमें ही अपने जीवनको लगा देते हैं। 'प्रायोबताम्ब मुनयः' इसके दो अर्थ हैं—मुनि माने व्रजके पक्षी और मुनि मानें आत्माराम मुनि। लेकिन एक बात इसमें और ध्वनित होती है कि इन पक्षियोंके मनोंमें यह बात क्यों आयी ? उन दूसरे भक्तोंको देखकर। इन्होंने शुक-पिकोंको गाते देखा, मयूरोंको नाचते देखा तो उनके संगसे, उनकी कृपा स्वाभाविक इनपर हुई। जैसे भगवान्‌के प्रेममें नृत्य—गीत—परायण लोगोंको देखकर इन ध्यानस्थ पक्षियोंके मनमें भगवान्‌के प्रति प्रेम करनेकी भावना आ गयी। इसी प्रकार मूढ़जीव भी भगवान्‌की कृपापर विश्वास करें और भक्तोंकी कृपा—दृष्टि लाभ करे तो उनके लिये भी मुनिधर्मावलम्बी होकर भगवान्‌के भजनमें लग जाना असम्भव नहीं है। फिर यहाँ तो बिल्कुल उलटी बात है। आत्माराम मुनियोंने समझा कि इस समय मुनि शरीरसे मुरली-वादक, नटवर—वपु, अपने सखाओंसे घिरे हुए भगवान्‌के सामने जानेपर रस ही भंग हो जायगा। भगवान्‌में मर्यादा जाग उठेगी। इतने ऋषि-मुनि आ गये उनको प्रणाम करूँ। उनकी लीलाका जो प्रवाह बह रहा है वह रुक जायगा। इसलिये ऋषियोंने, मुनियोंने देखा कि उनका इस समयका दर्शन किये बिना रहा नहीं जा रहा है और वंशी—निनादका निकटसे श्रवण किये बिना मन नहीं मानता। तब जिस शरीरके द्वारा, जिस वेशके द्वारा भगवान्‌का दर्शन मिले, भगवान्‌की स्वर—लहरी सुननेको मिले वही ग्रहण कर लेना अच्छा है। इस प्रकार जब अपने सजातीय लोगोंके

बीचमें जा नहीं सकते तो ये जो ध्यानस्थ पक्षीरूपी मुनिगण हैं उन्होंने सोचा कि ये हमारी जातिके ही हैं। अतः आत्माराम मुनि भी भगवान्‌के दर्शनकी लालसा और भगवान्‌के वंशी—नाद श्रवणकी अत्युत्कट वासना, तीव्र उत्कण्ठाको लेकर उन पक्षीरूपी मुनियोंका शरीर धारणकर उनसे जा मिले। उनके बीचमें बैठ गये और उन्हींके साथ उड़कर डालियोंपर उनके आस—पास बैठ गये। वह वृन्दावनके महाभाग्यवान् परमपुण्यमय भगवत्स्वरूप वृक्षोंकी शाखाओंको आश्रय बनाकर अर्धमुदित नेत्रोंसे वेणुनादके माधुर्यका आस्वादन करने लगे। यहाँ सुनने लगे। यह पहले ही कहा है कि कानोंको इन्होंने दोना बना लिया है—रसको रखनेका पात्र बना लिया।

'प्रायोबताम्ब विहगा मुनयः' इन शब्दोंपर ध्यान देनेसे ऐसा मालूम होता है कि वे पक्षी मुनिधर्मावलम्बी थे अथवा मुनिगण पक्षीका रूप धारण करके वंशी—नाद श्रवण हेतु वहाँ पर आ गये। दोनो अर्थ है। वह भाववती परम प्रेमरसमयी व्रजांगनाएँ कहने लगीं कि—सखी ! देखो इन वृन्दावनके पक्षियोंको देखकर यह मनमें आता है कि ये साधारण वनके पक्षी नहीं है। यह सनत्कुमारादि, नारदादि आत्माराम मुनिवृन्द हैं। वे ही वृन्दावनविहारी हमारे परमप्रिय मनोहर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके रूप—माधुर्य और वेणुनादके रसास्वादनके लिये वृन्दावनमें आ गये है। यद्यपि ये ब्रह्मलोक तक जाते हैं और वहाँ ब्रह्माका वेदगान सुनते हैं तथा वहाँ बड़े—बड़े गन्धर्वों—तुम्बुरु आदिका गाया मधुर संगीत भी सुनते हैं। परंतु यह कृष्णेच्छित—भगवान् कृष्णके द्वारा उत्तरोत्तर नव—नव माधुर्यसमन्वित—वेणुनादकी रागिनियाँ केवल सप्तसुरोंमें आबद्ध नहीं हैं। एक—एक सुरमें न जाने कितने और मधुर सुर निकलते हैं। भगवान् स्वयं संगीतरूप हैं। श्रीकृष्णके द्वारा ताल—भंगिमा सहित गाया हुआ कृष्णेच्छित—नव—नव माधुर्यसे समन्वित भावोंको प्रकट करनेवाला वेणुगीत सारे जगत्‌के चित्तको आकर्षित कर लेनेवाला है। उसे श्रवण करके यह मुनिलोग अपनेको आज विशेष आनन्दमें पा रहे हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीकृष्णके वंशीनादमें कुछ विशेषता है। गोपियाँ आपसमें कहती हैं कि कुछ विशेषता अवश्य है, नहीं तो ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके गाये हुए वेदगानको छोड़कर यहाँ क्यों दौड़े आते ? पक्षी बनकर क्यों बैठते ? ये क्यों गन्धर्वोंके संगीतको छोड़ देते ? इससे मालूम होता है कि मुरली—निनादसे इस वृन्दावनमें यह जो परमानन्द रस—प्रवाह बहता है, यह न तो ब्रह्म समाधिमें है और न तो किसी अन्य लोकके संगीतमें ही। यह तो श्रीकृष्णके उन प्रेमियोंको

प्राप्त होता है, जो अपना सर्वस्व त्यागकर आनन्द चित्तसे, चित्तको भी वंशीरूप बनाकर, जो अपनेको लगा लेते हैं और श्रीकृष्णके नामरूप, गुण, लीलादिके सिवाय सब चीजोंका जो विसर्जन कर देते हैं एक उनके प्रति, ऐसे श्रीकृष्ण-निष्ठ जीवनवाले महापुरुषोंका अनुकरण करके अपने सौभाग्यको विकसित करके यह मुनिगण यहाँ आ गये।

वृन्दावनके इन पक्षियोंके वंशीनाद श्रवण और उनके भावावेशको देखकर भाग्यवती और भाववती व्रजरमणियाँ नाना प्रकारसे सद्भावना करती हुई पक्षियोंके त्याग, वंशीनादके श्रवणके आनन्दावेश और उनके प्रेम-सुलभ स्वभावका दैन्य, इन सबका वर्णन करते हुए कहने लगीं कि हम तो भाग्यहीना हैं--क्योंकि हमारा वंशीनाद श्रवण दूरसे होता है। हम समीप नहीं जा पातीं और उस रूप-माधुर्यका आस्वादन भी नहीं कर पातीं। विधाता हमें यदि व्रजरमणी न बनाकर इस वनकी विहंगी बना देते तो श्रीकृष्णके साथ इस वनसे उस वनमें भ्रमण करती, उनके पीछे-पीछे उड़ती, वे जहाँ खड़े होते वहीं उनके सामने किसी वृक्षकी शाखापर बैठ जाती तथा टकटकी लगाकर निर्निमेष नेत्रोंसे उनके वदन-सौन्दर्यका दर्शन करती और जीवनको धन्य करती।

ये भाव उनके मनमें पैदा हुए। इसी समय उनको यह भी दिखायी दिया कि अरे! यहाँके सरोवर मानसगंगा आदि नदियाँ उमड़ रही हैं। मानों श्रीकृष्णको आलिंगन करने जा रही हैं बोलीं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिंगनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलंकमलोपहाराः॥

(भागवत १०। २९। ९)

यमुना, और मानसगंगादि नदियोंने श्रीकृष्णके वेणुगीतको सुना तो उनमें प्रेम उमड़ा और उस प्रेमसे वे आवर्त तथा वेगविहीन होकर अपनी तरंगरूपी भुजाओंमें श्रीमदनमोहनका कमलोपहार लेकर आलिंगन करने लगीं। उनके चरणयुगलोंको अपने अंगोंपर धारण कर लिया।

श्रीव्रजांगनाएँ अखिलरसामृतमूर्ति, रसिक, रसिकशेखर, परमश्रेष्ठ भगवान् श्यामसुन्दरका वेणुगान सुनकर भावावेशमें अपने आपको भूल गईं। भगवान्ने वृन्दावनकी वनभूमिकी शोभा देखनेके लिये उसमें प्रवेश किया। समवयस्क गोपबालक और श्रीदाऊजीके साथ। वनदेवीकी समस्त शोभा मानों उस दिन प्रकट हो गई। प्रकृतिदेवीने वनभूमिको सजाया। सब प्रकारसे उसका

शृंगार किया क्योंकि आज वनभूमिकी शोभा देख-रेखके लिये ही श्यामसुन्दर उसमें प्रवेश करते हैं। भगवान् श्यामसुन्दर परम सुन्दर ही नहीं सारे सौन्दर्यके मूलाकार हैं। सौन्दर्यके समुद्र हैं। त्रिभुवनमें जितना सौन्दर्य है वह सारी सौन्दर्य-राशि भगवान्‌के सौन्दर्य-सिन्धुकी एक बूँद भी नहीं है। एक काव्य है—काला चाँद गीता। काला चाँद माने कृष्णचन्द्र, गीता माने उनका गीत। बड़ा सुन्दर काव्य है। उसमें प्रारम्भमें कहते हैं कि प्रकृतिके सौन्दर्यका निरीक्षण किया कि कितने पुष्प खिले हुए हैं, उनमें कितने-कितने रंग हैं। कितनी-कितनी प्रकारकी उनकी अलग-अलग सुगन्ध है। पक्षी-कुल कितने प्रकारके हैं, कितने रंग-बिरंगे हैं, उनकी कितनी मधुर काकली है। प्रत्येक क्षेत्रमें सौन्दर्यका, माधुर्यका एक प्रवाह बह रहा है। सब जगह सौन्दर्य-माधुर्यके बड़े-मनोहर मधुर चित्र हैं। केवल स्थिर ही नहीं चलते-फिरते और किसी यन्त्रसे नहीं बोलते, स्वयं अपने-आप बोलते-चलते हैं। चेतन प्राणी और अचेतन भी पर्वत, नद, नदियाँ वृक्ष सभीमें एक सौन्दर्य भरा है। जिसने इस सौन्दर्यको अंकित किया, जिसने इस कलाका प्रकाश किया वह कलाकार कैसा है ? उसका हृदय कैसा है ? जिसके अन्दरसे इतनी कलाएँ निकलीं और निकलती ही जा रही हैं। कहीं उस सौन्दर्य-माधुर्यकी आजतक सीमा नहीं हुई। नया-नया सौन्दर्य, नया-नया माधुर्य प्रकट हो रहा है। नया बन नहीं रहा है प्रकट हो रहा है। जो उस सौन्दर्य-माधुर्यके समुद्रमें सदासे है। जो अनन्त है, अपार है, असीम है। वह अनन्त, अपार, असीम सौन्दर्य-माधुर्य नित नये रूपमें प्रकट होता रहता है। अपने अन्दरकी कलाको वह चित्रकार निरन्तर चित्रित करता रहता है। वह कलाकार कैसा है ? उसके हृदयका, वदनका सौन्दर्य-माधुर्य बड़ा विलक्षण होगा ! वह जहाँपर सौन्दर्य बिखेरता है वहाँ कभी देखने आये कि उसकी चीज कैसे सजायी गयी है ? कहीं छिपाकर तो नहीं रखी है। वह परीक्षा करने नहीं आता बल्कि अपनी सौन्दर्य-राशिको देखकर उसका रसास्वादन करने आता है। माधुर्यके क्षेत्रमें कहीं परीक्षा और उसकी उत्तीर्णता नहीं है। यहाँ तो सब तरहसे केवल देना ही देना है। प्रियतम भी देते हैं, प्रेमी भी देते हैं। दोनों ही देनेमें लगे रहते हैं। आश्रय- आलम्बन और विषय-आलम्बन दोनोंही चलता है। दोनों दोनोंके प्रेमी और दोनों-दोनोंके प्रेमास्पद।

प्रकृति देवीको जिस सौन्दर्यका दान दिया है, जिस सौन्दर्य-सागरने, वही उसी सौन्दर्यको देखने वनभूमिमें प्रवेश करते हैं। वनभूमि आज अपने

सम्पूर्ण शृंगारोंसे, जो कुछ उसके पास शृंगारका साधन है—उन सारे साधनोंको लेकर सुसज्जित हो गयी है। श्रीशुकदेवजीने श्रीगोपांगनाओंके श्रीमुखसे वनभूमिके शृंगारका वर्णन किया। जितने वृक्ष थे, सूखे हुए भी, वे सभी आज रसयुक्त हो गये। उनमें नये-नये पल्लव-पुष्प आ गये। नई-नई सुगन्धियाँ आ गयीं। वे सब ऋतुओंमें खिलनेवाले पुष्प एक ही साथ आज शरद ऋतुमें खिल उठे। अपना सौभाग्य ज्ञापन करनेके लिये कि आज हमारे श्यामसुन्दर हमें देखने आ रहे हैं। तो ऋतुकी प्रतीक्षा कौन करे ? कब ऋतु आवेगी, कब सेवा करनेका मौका मिलेगा ? इसलिये आज प्रकृति देवीने—प्रकृतिके पदार्थोंने मानों प्रार्थना की कि आज समयकी प्रतीक्षा न करके हमें तथा जितने तुम्हारे हाथके खिलौने हैं सबको (प्रतीक्षा न करके) आज ही प्रकट कर दो। इसीलिये समस्त वनभूमिमें सारे वृक्ष लहलहा उठे। तमाम लताएँ हरी-भरी हो गयीं। उनपर नये-नये सुकोमल पल्लव आ गये। पुष्पोंकी राशियाँ इकट्ठी हो गईं—प्रकृतिने सारी व्यवस्था सुन्दर ढंगसे कर दी। जिस अंगकी ओर ध्यान जाय प्रकृतिके वही अंग शृंगारवान्। मानो आज शृंगार-मूर्तिमान् होकर वनभूमिमें क्रीडा करने लगा अपने स्वामीका शुभागमन देखकर, उनके स्वागतके लिये। श्यामसुन्दर वनभूमिको देखकर प्रसन्न हो गये। अब उस रसको वे बाहर ढालना चाहते हैं। जिस-जिसका जैसा भाव उसको वैसा देना चाहते हैं। अन्दरके रसको ले आये अपने अधरोंपर। यद्यपि भगवान्‌के अधर नित्य हैं, परम सुन्दर हैं, रसमय हैं, मंगल हैं, मनोहर हैं, अमृतसमुद्र हैं; परन्तु आज यह रसका वह प्रयोग करना चाहते हैं—बड़े मधुर रूपमें। जिसे ग्रहण करने दूर-दूरके लोग आये। भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका रसास्वादन करने आये। तब उन्होंने अपने अधर-रसोंको वंशीमें फूँकना प्रारम्भ किया। यहींपर बड़ा सुन्दर कहा है कि—अधर-रसका सिंचन किया मुरलीके छिद्रमें। इसमें नौ छिद्र हैं न !

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।

(भागवत १०। २१।)

मानों अधर सुधाके द्वारा वह उन छिद्रोंको बन्द कर देना चाहते हैं। इतनी अधर सुधा डालते हैं, पूरित करते हैं कि मानों आज तो ये छिद्र बन्द ही हो जायँगे। उनका दूसरा उद्देश्य है न ! इस रसको संगीत बनाकर, इसे मधुरगानके रूपमें परिवर्तित करके सर्वत्र वितरण करना चाहते हैं। वह फूँका हुआ अधररस अन्दर जाकर मधुर संगीतके रूपमें परिणत हो गया,

और नीचेके छिद्रोंसे जिसपरसे अँगुली उठी, उसीसे निकल पड़ा। वह रस संगीत बनकर बज उठा।

भगवान्‌का यह अधर—सुधारस जब संगीत बनकर विस्तृत हुआ, बिखरा तो जिस-जिसके पास पहुँचा, वह अपने भावके अनुसार उस रसका सुखास्वादन करने लगा। गोपांगनाओंने जब इस मधुरगानको सुना तो वे अपने—अपने घरोंमें थीं। इससे उनके हृदयोंमें एक बड़ी प्रबल मिलनेच्छा उत्पन्न हो गयी। इनमें पूर्वराग तो पहलेसे ही था। अतः यह वंशी—निनाद पूर्वरागका प्रथम कारण नहीं है। यह तो उसे बढ़ानेवाला है। पूर्वरागके दस जो भेद हैं उनमें वंशीश्रवण भी एक कारण होता है। परन्तु यह श्रीगोपांगनाएँ तो साक्षात् दर्शन कर चुकी हैं। सबसे प्रधान मूल हेतु होता है पूर्वरागका—साक्षात् दर्शन। आजके वेणुनादमें रसोद्दीपन करनेकी वस्तु है। वेणुनाद भगवान्‌के रसको उद्दीप्त करनेवाला है। यह रस सुननेवालेके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी अत्युत्कट तीव्र इच्छा पैदा कर देनेवाला है। श्रीगोपांगनाएँ पूर्वरागवती तो थी ही, पर इस वंशीनादने एक अत्यन्त तीव्र परन्तु मधुर भावप्रवाह उत्पन्न किया। यह भोगोंकी जो लालसा होती है—भोगकामना और भगवान्‌के मिलनकी कामना इसमें बड़ा अन्तर है। भोगकामना निरन्तर जलाती है, पूर्ति होनेपर भी जलाती है और भगवत्कामनाकी अग्नि जलती हुई भी स्मृतिमें भगवान्‌को लाकर अपार शान्ति देती है। तुलसीदासजी महाराजने बड़ा सुन्दर हेतु बताया है कि लोग जल क्यों रहे हैं ? भगवान्‌का स्तवन करते हुए अपने मनसे उद्‌बोधन करते हुए कहते हैं कि—

जग जाचिअ कोऊ न, जाचिअ जौं जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे।।

(कवितावली / उत्तरका० / २८)

तुलसीदासजी कहते हैं 'जग जाचिअ कोउ न' संसारमें किसीको किसी भी चीजके लिये जाँचो मत, जाँचनेसे जलन बढ़ेगी, मिटेगी नहीं। किसीसे किसी प्रकारकी कामना मत करो। जाँचना ही है तो 'जाचिअ जानकीजानहि रे' जानकीनाथ भगवान् श्रीराघवेन्द्रको जाँचो। इससे क्या होगा ? 'जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे'। आगमें आग लग जाय और उसे बुझा दे यह ऐसी चीज है। 'जो जारति जोर जहानहि रे'। संसारमें कोई जलना नहीं चाहता।

स्वाभाविक सुखकी इच्छा सबको है, चाहे वह भाषामें व्यक्त न कर सके

लेकिन 'यह सुख चाहिये' यह आग हमेशा मनुष्यके हृदयको दरिद्र बनाये रखती है। चाहे वह इन्द्र बन जाय, अरबपति हो, करोड़पति हो, बड़ा भारी अधिकारी हो, पर जहाँ विषयकामना है वहाँ वह दरिद्र है।

चाह गयी चिन्ता गयी मनवा बेपरवाह।
जाको कछु न चाहिए सो जग शाहंशाह॥

श्रीशंकराचार्यजीके 'प्रश्नोत्तरी' नामक ग्रन्थमें आया है—**'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः, श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः।'** दरिद्र कौन है? विषयासक्त। सबसे बड़ा धनी कौन है? जो संतुष्ट है, जिसे विषयकामना नहीं है। इसलिये **'जारति जोर जहानहि रे'**। यह विषयकामना सारे जगत्‌को जबरदस्ती जला रही है। इसको जलाना हो तो क्या करें? **'जांचिअ जानकीजानहि रे'** जानकीनाथ भगवान् रामचन्द्रको जाँचो या उनसे जाँचो एक ही बात है। उन्हींको जाँचो और उन्हींसे जाँचो—दोनोंके अर्थ ठीक हैं। इसमें क्या है कि जो जाचकताकी आग सबको न जलना चाहनेपर भी जबरदस्ती जला रही है। वह आग भगवान्‌के जाँचनेसे जल जायगी। **'जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ'** उन्हें जाँचते ही जाचकता (याचकता) जल जायेगी। इसलिये विषयकाम और भगवत्कामनामें बड़ा अन्तर है।

भगवान्‌की स्मृति जब होती है तो स्मृति होते ही वे मनमें आ जाते हैं। यह एक विलक्षण चीज है। यह समझमें आ जाना चाहिये कि भगवान् कल्पना नहीं हैं। हमारे मनमें, हमारी बुद्धिमें, हम जहाँ रहते हैं, हमारे आस-पास, दिन-रात अर्थात् काल, देश और व्यक्ति इन तीनोंके भेदसे रहित। हर कालमें भगवान् हैं, हर देशमें भगवान् हैं, हरएकमें भगवान् हैं। हम जब मनमें भगवान्‌की स्मृति करते हैं तो उस स्मृतिसे हम भगवान्‌की कल्पना नहीं करते हैं। परंतु वहाँ जो भगवान् हैं पहलेसे, उनको हम देखते हैं जितनी भी विषयोंकी स्मृति है वह हमारी कल्पना है। हम मिथ्या जगत्‌में सत्यका आरोप करके जब उस सत्यको नहीं पाते हैं तो रोते हैं क्योंकि वह वहाँ है ही नहीं। जगत्‌में जितनी भी हमारी सुखकी और स्थितिकी कल्पना है उसे सत्य मानते हैं। अमुक चीज है, वह है हमारी कल्पनामें, पर **'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'** (गीता १५।३)। हम जैसा मानते हैं वैसा पाते नहीं हैं। वह है नहीं वहाँपर। परन्तु भगवान् हमारे अस्वीकार करनेपर भी हैं। हमारे न माननेपर भी हैं। उनकी सत्ता हमारी स्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखती। सत्य जो है वह किसीके अस्वीकार कर देनेपर या न माननेपर

मिटता नहीं है। क्योंकि वह है। सत्यका अर्थ ही है कि वह है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६) जो है उसका कभी अभाव नहीं होता चाहे उसे कोई माने या न माने। इसलिये भगवान्‌को कोई चाहे माने या न माने पर भगवान् हैं। भगवान् सर्वत्र हैं, भगवान् सदा हैं और भगवान् सबके लिये हैं।

इस भावनासे हम इच्छा करें कि भगवान् मिलें, और भगवान्‌से मिलनेकी इच्छाको लेकर हम उनका स्मरण करें। जिस मनमें जिस वृत्तिमें हम स्मरण करेंगे उस वृत्तिमें वह पहलेसे मौजूद हैं। कोई भी चित्तकी वृत्ति, जगत्‌का कोई भी छुद्रसा स्थान भी भगवान्‌से खाली नहीं है। इसलिये हम जिस स्थानमें, जब, जिसरूपमें उनका स्मरण करेंगे उसी रूपमें, उसी समय, भगवान् वहीं पर हमें मिल जायँगे। बड़ी सीधी बात है। यह करनेकी चीज है। हमारे पास तीन चीज है—मन है, वाणी है और शरीर है। तीनोंको हम भगवान्‌में लगा दें तो काम बने। यह बड़ा सीधा साधन है। जीभ जो है उसके द्वारा जब-जब अवकाश मिले भगवन्नाम लें, जीभको व्यर्थमें खर्च न करें। वाणी व्यर्थके भाषणमें न जाय। जितनी जरूरी बात कामकी हो उतनी बोलें बाकी रामकी बातें। 'वाणी गुणानुकथने' जब-जब जीभ खाली हो, भगवान्‌का नाम लें, जीभको कहीं बझाके रखे नहीं। भगवान्‌का नाम लेते रहें और शरीरसे संसारके काम होते रहें। संन्यास लेनेपर भी संसार कहीं मिट नहीं जायगा, चाहे उसके विचारमें मिट जाय पर निर्वाहमें मिटेगा नहीं संसार। वहाँ इन्द्रियाँ हैं—देखनेके, सुननेके, सूँघनेके, स्पर्श करनेके विषय हैं ही। अब उनके द्वारा हमें भगवान्‌का सम्पर्क प्राप्त करना है तो जो कुछ भी शरीरके द्वारा क्रिया हो उसे भगवान्‌की सेवा हो रही है, पूजा हो रही है, यह मानें।

'स्वकर्मणातमभ्यर्च्य' (गीता १८। ४६) सन्यासी अपने भावसे, गृहस्थ अपने भावसे पूजे। शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रियामें भगवान्‌के पूजाकी भावना हो। मनसे क्या करे ? इसका एक बड़ा सुन्दर तरीका है, अगर कोई करे। भगवान्‌की मधुर-मधुर बाललीलाका चिन्तन करे। बड़ा निर्दोष, बड़ा मधुर। सबके मनको लगा देनेवाला। घरमें बच्चे हैं, न हों तो आस-पासके बच्चे हैं ही। हम बच्चोंको देखते हैं—खेलते, उछलते, कूदते, नाचते, उद्दण्डता करते हुए, खाते-पीते, रोते, मचलते, जिस तरह उनको देखते हैं, उन बच्चोंकी जगह हम श्यामसुन्दरको कर दें, राघवेन्द्रको कर दें, किसी

एकको कर दें। उनकी लीलाओंका, खेलोंका चिन्तन करें। उन बच्चोंके खेलोंका चिन्तन करेंगे हम तो यह बच्चे तो हमारे हैं यह तो मनकी कल्पनामें ही है। पर जिस वृत्तिमें जिस समयमें हम भगवान्‌का चिन्तन करेंगे। उस वृत्तिमें उस समयमें वे हैं ही। अब रहा कि हैं तो वे व्यापकरूपमें ही, हम तो बच्चोंका चिन्तन कर रहे हैं तो भगवान् सर्वभावसमर्थ भी हैं। आप बच्चोंके रूपमें भगवान्‌को देखना चाहें अमुक बच्चेके रूपमें तो उसी बच्चेके रूपमें हो जायँगे। उन्हें रोकता कौन है ? जब भगवान्‌की कामना मनमें पैदा होती है तो वह तीव्र कामनाकी अग्नि, भगवान्‌के मिलनकी आग, जिसके हृदयमें लग जाय उसकी वह आग सारी कामनाओंको जला देगी। सारी विषयकामनाओंको, भोगकामनाओंको, भगवान्‌के मिलनकी कामना जला देगी। **'जेहि जाचत जाचकता जरि जाय'**। इससे रह जायगी विशुद्ध भगवत्‌मिलनकी कामना जो भगवान्‌की स्मृति करायेगी। नारदजीने तो स्मृतिको ही भक्ति कहा है। **'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति'** और **'यथा व्रजगोपिकानाम्'** (नारदभक्तिसूत्र १६-२१)

व्रज-गोपियाँ जैसे अपना सर्वस्व भगवान्‌में समर्पण करके केवल उन्हींकी स्मृतिरूपी धनको अपने पास रखती हैं।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रियः उरुक्रमचित्तयानाः॥

(भागवत १०। ४४। १)

उनके चित्तमें निरन्तर भगवान् खेल रहे हैं, यही तो उनके लिये धन्य होनेकी चीज है। भगवान्‌की स्मृति भगवत्-मिलनकी कामनाके रूपमें जब हृदयमें उत्पन्न होती है तो विषयकामनासे होनेवाली जलन मिट जाती है। इससे जिसको हम दुःख कहते हैं वह मिट जाता है। दुःख तो जगत्‌की ही सीमामें है। इस प्रपञ्चकी सीमासे बाहर दुःख नहीं है, भगवान् ही भगवान् हैं, और यहाँ भी भगवान् ही भगवान् हैं। परंतु हम यहाँ भगवान्‌को न देखकर प्रपञ्चको देखते हैं इसलिये-

पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'

(गीता १३। २१)

हम उस प्रकृतिके गुणोंसे जबरदस्ती लादे जानेपर दुःखी-सुखी होते हैं, नहीं तो हम यहाँ भी वही हैं। स्वस्थ हो गये तो ठीक हो गया। जब हृदयमें भगवान्‌के मिलनेकी कामना होती है, उसी समय वे

जाते हैं। अब वो तीव्र कामना है, तीव्र जलन है—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी। उस जलनमें जहाँ तीव्रता हुई, विप्रलम्भ रस जहाँ अत्यन्त बढ़ा, वहाँ उस वियोगके दावानलमेंसे ही बड़ा शीतलमय प्रकाश प्रस्फुटित होता है और तुरंत भगवान्‌का प्राकट्य हो जाता है। भगवान् वहाँ हृदयमें प्रकट हो गये। यही हुआ यहाँ पर।

गोपांगनाएँ भगवान्‌की मुरली-निनादको सुनकर जब आकुल हुईं, जब हृदयमें मिलनेच्छा तीव्र हुई, तब तुरंत दौड़ीं। उनमें पूर्वराग अत्यन्त था ही। वह उस समय खिल उठा और उनके सामने भगवान्‌का वह सौन्दर्य-माधुर्य, नटवर-वपु प्रकट हो गया। **'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं'** (भागवत १०। २१।) इस वेषमें नाचते हुए श्रीकृष्ण दाऊजीके साथ दिखायी दिये। अब उन्होंने फिर आत्मगोपन किया, श्रीकृष्णके ही प्रति। प्रेम गोपनीयताको पसन्द करता है। यह स्वभाव है प्रेमका। काम छलकता है, प्रेम छिपता है। यह नियम है। काम छिपना नहीं चाहता। छिपाते हुए भी काम छिपना नहीं चाहता और प्रेम हमेशा छिपनेकी चेष्टा करता है। **'प्रकाशिते क्वापि पात्रे'** (नारदभक्तिसूत्र- ३) जब कहीं तीव्र आवेग होता है अन्दर, तब कहीं-कहीं प्रकट भले हो जाय। श्रीगोपांगनाएँ आत्मगोपन करती हुईं—अन्दरके भावोंको छिपाती हुई अपनी अन्तरंग सखियोंके प्रति भी स्पष्ट नहीं बोल रहीं हैं—जिनके साथ उनका सम्पर्क है। यहाँ गोपियोंने एक बड़ी मधुर बात कही और कहती जा रही हैं। यहाँपर दो बात है। एक तो उनकी आँख ऐसी हो गयी है कि जड़-चेतन सबमें अपना-सा भाव प्रतीत होने लगा। नद-नदी जो अचेतन हैं न ! पर गोपरमणियाँ तो स्वयं चेतन, देववधुएँ चेतन, हरिणियाँ, गायें चेतन; पर इनकी बात करते-करते नदियोंकी बात करने लगीं। नदियाँ तो अचेतन हैं, पर सब गोपांगनाओंको सब जगह अपने समान दीखता है। ये भी सोच सकती हैं कि नदीका हृदय हमारे समान चेतन नहीं है, पर वे सोचती हैं कि हमारे समान ही है। ठीक ऐसी भाषामें शुकदेवजी बोलते हैं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिंगनस्थगित मूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः।।

(भागवत १०। २१। १)

एक बात तो यह कि गोपियाँ सबमें देखती हैं कि सब हमारे जैसे ही विरहानलमें दग्ध हो रहे हैं। पशु-पक्षी, चर-अचर सभी भगवान्‌के विरहानलमें

व्याकुल हैं। सब मिलना चाहते हैं और आज सबका सौभाग्य कि सब मिल रहे हैं। दूसरी बात गोपियाँ कहती हैं कि मिलना तो सभी चाह रही हैं, हम भी चाह रही हैं पर मिल नहीं पा रही हैं। मनमें सराहती हैं उनके सौभाग्यको देखकर कि चाहे वह गाय ही हो, बछड़ा ही हो या वनके विहंगम ही हों। उन्होंने उनका संग तो पाया। इसलिये सौभाग्यशाली वही हैं, जिनको भगवान्‌का संग प्राप्त हो। वे कहती हैं——

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यभाषः॥

(भागवत १०। २१। १४)

मुनि शब्दके दो अर्थ—व्रजके पक्षी भी और आत्माराम मुनि भी। आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के गुणोंसे विमोहित होकर, आकर्षित होकर खींचे चले आये। प्रेम करनेको बाध्य हो गये। वंशीनादको, वेणुनादको जब मुनियोंने सुना तब वे आत्माराम मुनि भी वहीं ध्यानस्थ थे। उन्होंने देखा बड़ा अच्छा मौका है, पक्षी बनकर (उनका नाम भी मुनि) मुनिमें मुनि मिल गये। यह मुनि उनमें आकर मिल गये या उस समय व्रजके सभी पक्षीगण ही मुनि थे। इसलिये वे आड़में बैठे। पत्र—पुष्प—पल्लवान्वित जो पेड़ थे उनमें छिपकर बैठे जिससे फाँकसे उनको देखा जा सके और उनको कोई न देख सके। मुनि एकान्तप्रिय होते हैं। वे भीड़—भाड़ पसन्द नहीं करते हैं। उनकी एकान्तप्रियता वहाँ प्रकट हो गयी, जिससे उनकी ध्यानस्थ अवस्थाको कोई देख न सके। कोई विघ्न न कर सके।

जो साधक साधना दिखाने जाते हैं, वे दिखानेमें ही रह जाते हैं और साधना नष्ट हो जाती है। इसलिये साधन गोपन रखना बड़ा आवश्यक है। योगवाशिष्ठमें एक उदाहरण है कि जैसे भले घरकी स्त्री जारके प्रेमको गुप्त रखती है उसी प्रकार गुप्त रखें क्योंकि साधना जहाँ प्रकट हुई, फैली; वहाँ दो चीज प्रकट होगी। कुछ उसके पूजक मिलेंगे और कुछ उससे द्वेष करनेवाले पैदा हो जायँगे। राग—द्वेष बिना हुए आ जायगा। उनमें रति होगी या उनमें द्वेष होगा। साधनाका सभी काम बन्द हो जायगा। राग—द्वेषमें जलने—मरने लगेंगे। इसलिये साधना गुप्त होनी चाहिये। इसीलिये मुनिलोग गुप्त बैठे। यह व्रजरमणियाँ बातें करती हुई कहने लगी कि—ये मुनिगण बहुत बड़े महात्मा हैं क्योंकि मननशील ही महात्मा होते हैं। मुनि तीन प्रकारके होते हैं (१) ब्रह्म—मननशील अर्थात् ज्ञानी मुनि, (२) परमात्ममननशील

अर्थात् योगी मुनि और (३) भगवत्मननशील अर्थात् प्रेमी मुनि।

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानेति शब्द्यते'

(भागवत १। २। ११)

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन भावसे उनको भजते हैं, देखते हैं। इस वृन्दावनके क्षेत्रमें भगवान् स्वयं रसराजशेखर, निराकार होते हुए भी साकार, निर्गुण होते हुए भी सगुण रूपसे हैं। भगवान्में यह चीज नहीं है कि अमुक चीज है और अमुक चीज नहीं है। यह तो हम भगवान्की सीमा बाँध देते हैं कि भगवान् निर्गुण नहीं हो सकते, सगुण नहीं हो सकते। भगवान् ऐसे नहीं बन सकते। क्यों नहीं बन सकते ? हमारी बुद्धिमें नहीं आये इसलिये ? तो महात्माओंने बड़ा सुन्दर इसका अनुभव किया कि भगवान् युगपत्—विरोधी—गुणधर्माश्रय स्वरूप हैं। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं। **'अणोरणीयान् महतोमहीयान्'** (कठो १। २। २०) वे एक ही कालमें परस्पर विरोधी गुणधर्मोंसे सम्पन्न हैं। यही भगवान्की भगवत्ता है। कोई भी जीव परस्पर विरोधी गुण—धर्मोंको एक ही कालमें नहीं रख सकता है। एक कालमें ही भगवान्में परस्पर विरोधी गुण अनन्त—अनन्त और अचिन्त्य, अनिर्वचनीय रूपसे रहते हैं। यह भगवान्की भगवत्ता है। भगवान् वनमें व्रजेन्द्र—नन्दनके रूपमें नटवर—वपुमें होकर आज विचर रहे हैं, नृत्य कर रहे हैं। यह नाचनेवाले नटवर भगवान्को देखनेके लिये जिन मुनियोंका मन आकृष्ट हुआ वे बहुत बड़े भाग्यवान्। ब्रह्ममननशील तो वे हैं ही। भगवत्प्रेमियोंमें अज्ञानकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। अज्ञानमें विषयासक्ति है, कामना है, अहंता है, ममता है और यह अज्ञान जहाँ तक वर्तमान है वहाँतक भगवान्में पूर्ण समर्पण होता ही नहीं है। कोई न कोई ममता, अहंता, कामना बीचमें अवरोध लगा देती है। इसलिये भगवान्में पूर्ण समर्पण होनेके लिये इन तमाम विषयोंसे मनका हट जाना आवश्यक है, अनिवार्य है। भगवत्प्रेमी अज्ञानी नहीं होते। यह दूसरी बात है कि वहाँ उस प्रेमके रसास्वादनमें—जिसमें पूर्णता हो, ज्ञान छिपकर प्रेम—लीला देखता है। ज्ञान वहीं—भक्तोंकी भाषामें—अपना फल प्राप्त करके कृतार्थ होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।

(गीता १८। ५४)

'ब्रह्मभूतः'—ब्रह्मज्ञानियोंका लक्षण बताया भगवान्ने कि ब्रह्मभावापन्न

होनेपर ही यह शोच और आकांक्षा मिटती है और सर्वत्र समता आती है तब 'मद्भक्तिं लभते पराम्' एक भक्तिसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' (गीता १४। २६) यह सच्चिदानन्दस्थाकी प्राप्तिमें भक्तिको कारण बताया। यह भक्ति और पराभक्तिका खेल है। ज्ञान और पराज्ञाननिष्ठाका भेद है। 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इसीका नाम पराभक्ति दिया—ज्ञानकी जो परानिष्ठा है। जो ज्ञान केवल ब्रह्मको नहीं समग्र भगवान्‌को बता देता है 'यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' (गीता १८।)। भगवान् जैसे हैं उनको वैसा पूरा-का-पूरा बता दें, वह निष्ठा ज्ञानकी परानिष्ठा है। और उस भगवान्‌को जो आँखसे दिखा दे, मिला दे वह पराभक्ति। इन मुनियोंका बड़ा सौभाग्य है कि ये मुनिगण आज ज्ञानका फल प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार मुनियोंकी श्रीकृष्णानुरागिणी व्रजरमणियाँ प्रशंसा करती हुई—नानाप्रकारसे प्रेम विवश होकर अपनी-अपनी सखियोंके सामने वंशीनादके बहाने नये-नये भावोंकी अवतारणा करती हुई अपने भावोंको प्रकट कर रही हैं। परंतु वह बड़ी धैर्यवती हैं। ये छुद्र नहीं है कि थोड़े से फल प्राप्त होनेमें, थोड़ेसे आवेश प्राप्त होनेसे नाच उठें, उछल जायँ। ये बड़ी धीर हैं गाम्भीर्यशालिनी हैं। इसलिये ये अपने मनोभावोंको व्यक्त नहीं करती हैं। जहाँ कहीं व्यक्त होने लगा वहीं तुरंत आत्मगोपन करने लगीं। जब देववधुओंकी बात कही तब कुछ भाव व्यक्त होने लगा। कबरीके सुमन गिरने लगे, वस्त्र शिथिल हो गये। इन भावोंके द्वारा उनके मनोभाव प्रकट होने लगे तो इसी समय गायोंकी बात ले आयीं, बीचमें, जिससे कि भाव-गोपन हो जाय। यद्यपि ये पूर्वरागवती होनेके कारणसे वंशी-निनादको सुनकर भावके आवेशमें हो गयीं और उनकी मिलनाकांक्षा अत्यन्त बढ़ गयी। अतएव वे अधीरा-सी हो गयी, पर यहाँ आत्मगोपनकी चेष्टा की। इसीको पहले अवहित्थाभाव कहा है अर्थात् मनकी बातको छिपा-छिपाकर कहना। यह अवहित्थाभाव ही आत्मगोपन है। अपने मनके भावको छिपाकर केवल वेणुकी ही, वंशीके स्वर-लहरीकी प्रशंसा करने लगीं। वंशीने ऐसा किया कि गायोंको, बछड़ोंको, देववधुओंको आकर्षित कर लिया। वंशीके नादने उन आत्माराम मुनियोंको बुला लिया। वे वंशीनादकी प्रशंसा करने लगीं, उसकी मोहिनी शक्तिकी ही प्रशंसा करने लगीं। इस वर्णन करनेमें उनका हेतु था अपने मनोभावोंको गुप्त रखते हुए भी व्यक्त करना। फिर यों कहते-कहते उनके मनमें एक भाव और आया। उन्हें दिखायी भी दिया कि यह भगवान् जो हैं वह वंशी

बजाते-बजाते यमुनाके किनारे पहुँच गए। तो यमुनाजीमें मानो बहुत-से कमल निकल आए और कमलोंका उपहार देनेके लिये तरंगे उठीं और उठ-उठकर जिस तटपर, ऊँचेपर श्यामसुन्दर खड़े थे, वहाँ पहुँच गयीं और वहीं पहुँचकर कमलोंका उपहार देने लगीं। भगवान्‌के चरणोंका प्रक्षालन करने लगीं; आलिंगन करने लगीं।

श्रीव्रजांगनाएँ बोलीं—यह यमुना मानस—गंगा आदि नदियाँ श्रीकृष्णके वेणुगीतको सुनकर मगन, मोहित हो गयीं 'मनोभवभग्नवेगाः' मगन—मोहित होकर इनमें भँवर आने लगे और ये आवर्त समाकुल हो गयीं—वे वेग विहीन हो गयीं तथा अपनी तरंगरूपी भुजाओंसे कमलका उपहार लेकर मदनमोहनका आलिंगन करने लगीं। और इनके चरण युगलोंको अपने अन्तरपर धारण कर लिया। यह श्लोकका शब्दार्थ है। नदीके बहाने भगवान्‌के बड़े मधुर शृंगारका वर्णन है। प्रेमियोंके मनमें किस प्रकारकी भावनाएँ पैदा होती हैं इसका संकेत है। यहाँपर भगवान्‌के लिये जड़-चेतन कुछ भी नहीं है। सभीमें उनकी चेतनता है।

ये कृष्णानुरागिणी पूर्वरागवती श्रीगोपियाँ इसका वर्णन करने लगीं। यह एक नियम है कि जिसका जिस भावमें मन अत्यन्त समाविष्ट होता है—जिस भावमें रमा रहता है, उसको सर्वत्र वही दीखता है। 'सर्वभूतेषु यः पश्यतः भगवत्भावमात्मनः'। जो सर्वत्र भगवान्‌को देखते हैं उनको कीट-पतंग, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, सभीमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं और जो एक ही भावमें निमग्न रहते हैं, उनको सभीमें, विपरीत लोगोंमें भी; अपने ही भाव दिखते हैं। उनकी आँख वैसी ही बन जाती है कि ये जिस किसीको देखते हैं, उसको अपने ही भावमें देखते हैं। चाहे स्थावर-जंगम कोई भी हो। श्रीगोपांगनाएँ उस समय केवल एक ही भाव-समुद्रमें निमग्न हैं। वह भाव है—श्रीकृष्ण-मिलनेच्छा। भगवान्‌को प्राप्त करके सुख-रसास्वादनकी तीव्रतम, अनन्य, एकान्त इच्छा। यह देख रही हैं कि जैसे हमने इच्छा है इसी प्रकारकी इच्छा सर्वत्र व्याप्त हो गयी है। नद-नदियाँ भी उसी इच्छासे आज व्याकुल हैं। ऐसा उन्होंने समझा। ये नदियोंके तीरोंपर वंशी बजाते-बजाते यमुनाके तटपर पहुँच गये या कहीं मानस-गंगाके तटपर पहुँच गये।

शुकदेवजी कहते हैं कि भगवान् नदीके तीरके ऊँचे किनारेपर जब खड़े हुए और उन्होंने मुरलीकी तान छेड़ी, बजा ही रहे थे तो उनमें तरंगे और ज्यादा उठने लगीं। ज्यों-ज्यों तरंगोंके द्वारा आन्दोलित नदीके वक्ष-स्थलको

भगवान्‌ने देखा—नदीवक्षको जब तरंगान्दोलित देखा तो उनको और उल्लास हुआ। भावोंकी मधुर तरंगे जब हृदयमें उछलने लगती हैं तब जिसके प्रति भाव होता है तो उसको और ज्यादा उल्लास होता है। तो जब भगवान्‌ने नदीके किनारे उच्च भागमें खड़े होकर वंशी बजाते हुए देखा कि नदियोंका वक्ष—स्थल अब तरंगोंद्वारा आन्दोलित हो रहा है तो उनको वंशीका संगीत और भी मधुर बनानेमें अधिक उत्साह हुआ। नदी—वक्षको देखकर भगवान्‌के हृदयमें एक उल्लास आया और उस उल्लाससे उस वंशी—वादनमें और भी माधुर्य आ गया। कोई सुननेवाला होता है तभी बजानेवालेको आनन्द आता है और सुननेवाला जब उत्साहसे उत्फुल्ल हो जाए, उसके चेहरेपर जब आनन्दकी लहरें उठने लगें तो गानेवालेके मनमें और भी ज्यादा उत्साह होता है।

तब उन्होंने वंशीकी तान छेड़कर मधुर—मधुर ऐसा राग गाया जिससे नदियोंका प्रवाह रुक गया, नदियोंने आगे बढ़ना छोड़ दिया। यहीं रुक गयीं और रुककर उनमें आवर्त पड़ने लगे। वे भँवरोंसे समाकुल हो गयीं। उनकी जलराशि स्तब्ध होकर स्फीत हो उठी। जल ऊपर उठने लगा श्रीकृष्णके कटि—प्रदेशतक जा पहुँचा। श्रीकृष्णने कहा अभी तुम्हारी साधना बाकी है, अभी तुम वक्षःस्थलतक नहीं पहुँच सकती। वक्षःस्थलतक जिनका पहुँचनेका अधिकार है वे तो पहुँचेंगी पर तुम तो यहीं तक रहो। तो बेचारीने देखा कि अब क्या करें ? तब वे कमल पुष्पोंके ढेर—के-ढेर लायी थीं उपहार देनेके लिये, तो वह तरंगेक्षलित जो कमलावली—तरंगोंके द्वारा उछाली हुई, वह कमलराशि श्रीकृष्णके चरणोंमें पतित हो गयी। तमाम कमल श्रीकृष्णके चरणोंमें आकर गिर गये। श्रीगोपांगनाओंने देखा कि मानो यमुना और मानस—गंगा आदि नदियाँ भी रसिकशेखर रसमय भगवान् श्यामसुन्दरके मुरली—निनादके द्वारा प्रसारित अधर—सुधा—रसका आस्वादन करके अपने आपको भूल गयी और इनमें भी मिलनेच्छा हो गयी है। 'मुकुन्दगीत भावर्तलक्षित मनोभव भग्नवेगाः' इनके अन्दर भी मिलनेकी व्याकुलता हमारी ही भाँति प्रकट हो गयी है। यह भी भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल हो गयी हैं। यह बात व्रजरमणियोंके ध्यानमें आयी तो अपनी सखियोंसे बोलीं कि—देखो, इस वंशीमें कितनी मोहिनी शक्ति है ? इस मुरलीमें क्या अद्‌भुत जादू है ? ये नदियाँ भी वंशीनादको सुनकर विक्षुब्ध हो गयीं। जिनके हृदयोंमें चेतना है उनकी दूसरी बात पर यह नदियाँ जड़—जलराशिसे भरी हुई और इनमें भी

भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुलता पैदा कर दी इस मुरली ध्वनिने। यह स्पष्ट दीख रहा है क्योंकि ये विकारग्रस्त हो गयी हैं। इनमें विकार स्पष्ट दीख रहा है। वंशीनादको सुनते ही उनके रूप-माधुर्यको देखनेके लिये ये व्याकुल हो गयीं और यह अपने अन्दरके भावोंको नहीं छिपा सकती। हम तो अभागिनी हैं, अपने अन्दरके भावोंके अनुसार कार्य कर नहीं सकतीं, छिपाना पड़ता है; लेकिन नदियाँ निश्छलहृदया हैं, वे निष्कपट हैं। उन नदियोंमें जब मिलनेच्छा पैदा हुई तो वे बेचारी अपने अन्दरके भावोंका गोपन नहीं कर सकीं। अतएव उनका हृदय आन्दोलित हो गया, पुलक उठा, उनके हृदयमें एक उभार आया—सैकड़ों-सैकड़ों आवर्तोंके रूपमें। उनके अन्दरका मिलनेच्छाका मनोरथ मानो मूर्तिमान हो गया।

यहाँ बड़ा सुन्दर प्रसंग है स्वकीया—परकीयाको लेकर। कहनेकी चीज नहीं, नदियोंके पति समुद्र हैं और वे समुद्रकी ओर धावित हो रही थीं, पर मुरली-निनादने जो समुद्रकी ओर उनकी स्वाभाविक गति थी उसे रोक दिया अथवा दूसरा इसका सुन्दर भाव है कि जीवमात्रकी अन्दरकी वृत्तियाँ निरन्तर भोगोंकी ओर जा रही हैं। योग-दर्शनमें, व्यास-भाष्यमें यह विषय आया है। वहाँ कहते हैं कि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (पातंजलयोगदर्शन/समाधिपाद/१२) चित्त नदीकी धारा है। यह सीधी जा रही है संसार समुद्रकी ओर। उसीको अपना पति मानती है, भोगोंको ही स्वामी मानती है। भोग-जगत्‌को ही हमारे चित्तने भगवान् मान रखा है। हमारी वृत्तियाँ सारीकी सारी निरन्तर भोगोंकी ओर जा रही हैं। भोगोंकी ओर जाती हुई वृत्तियोंको रोककर हमें उनको भगवान्‌में लगाना है। इस हेतु दो काम करने होंगे—नदीके प्रवाहको रोकनेके लिये बाँध बाँधना होगा और नहरें बनानी होंगी। केवल बाँध-बाँध दे और उसमेंसे नहरें-नाले न निकालें तो या वेग आवेगा प्रवाहका और बाँध तोड़ देगा या कहीं अनिश्चित स्थानोंमें जाकर वह जल गाँवोंको डुबो देगा। इसलिये एक तरफ बाँध बँधे और फिर विभिन्न मार्गोंसे नाले निकलें, जो यथा स्थान खेतोंमें जहाँ-जहाँ जल ले जाना है, वहाँ-वहाँपर जल सुचारू रूपसे पहुँच जाय। यहाँ वैराग्य जो है यह है बाँध और अभ्यास है नहरें निकालना। चित्तकी वृत्ति जो संसार की ओर जा रही है उसे रोकना यह बाँध बाँधना या वैराग्य है और इन्द्रियोंके विभिन्न मार्गोंके द्वारा देखना-सुनना, समझना, स्पर्श करना, सूँघना, चखना, इनके द्वारा मनकी वृत्तिको भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न करना, यह

अभ्यास है। योग-मार्गमें वैराग्य-अभ्यासमें दूसरे-दूसरे साधन होते हैं। यहाँ केवल प्रेमराज्यमें वही बाँध बँध जाता है, वही नाले निकाल देता है।

प्रेम दोनों काम अपने-आप करता है। यहाँ दुःखदोषानुदर्शनकी जरूरत नहीं पड़ती है। भगवान्‌का वंशी-निनाद कानमें आया, भगवान्‌के सौन्दर्यकी, माधुर्यकी स्मृति हुई कि भोगोंसे वृत्तियाँ अपने-आप हट जाती हैं। भोग जगत्‌की ओर जाती हुई जो वृत्तियाँ हैं उनका वेग रुक जाता है और तमाम वृत्तियाँ भगवान्‌की ओर आकृष्ट होकर, उनके मिलनेके लिये व्याकुल हो जाती हैं। यह नद-नदियाँ समुद्रकी ओर जा रही थीं जैसे हमारे चित्तकी वृत्ति भोगोंकी ओर जा रही है वैसे। तो भगवान्‌के मुरली-निनादने इसको रोका, वृत्तियाँ वहाँसे हट गयीं, धारा वहाँसे जाती हुई एकदम रुक गयी। बाँध नहीं बाँधना पड़ा। अपने-आप मुरली-निनादने उस प्रवाहको रोक दिया समुद्रकी ओर जाते हुए को। नदियोंका प्रबलतम वेग था। वह भोगोंके तट-भूमिको तहस-नहस करते हुए, प्रबल वेगसे विपरीत गतिमें होकर भगवान्‌की ओर चलने लगा। क्रमशः स्फीत और परिवर्धित होकर। नदियोंका प्रवाह श्रीकृष्णका चरण-स्पर्श पानेके लिये व्याकुल हो उठा और फिर कमलोंका उपहार देकर और अपनी तरंग भुजाओंको फैलाकर श्रीकृष्णके वक्षःस्थलको आलिंगन करनेके लिये आतुर होकर चल पड़ा। यह नदियोंका वंशी-निनाद पर विमोहित होकर भगवान्‌की ओर चल पड़ना है।

शुकदेवजी महाराज वेणुगीतके प्रसंगका वर्णन करते हुए श्रीगोपांगनाओंके द्वारा भगवान्‌का संग प्राप्त करनेवालोंकी महिमाका, सौभाग्यका वर्णन कर रहे हैं। श्रीगोपांगनाओंने यमुना, मानस-गंगादि नदियोंकी स्थितिका वर्णन किया कि सब-की-सब नदियाँ भगवान्‌के वेणुनादको सुनकर आकृष्ट हो गयीं और उनके हृदयोंमें भी तीव्र मिलनेच्छा पैदा हो गयी तथा वे समुद्रकी ओर जानेवाली अपनी गतिको मोड़कर—रोककर भगवान्‌की ओर चलनेको तैयार हो गयीं। भगवान् तटपर खड़े थे, सीधी धारा तो थी नहीं। समुद्रकी ओर जाती हुई नहीं, रुककर उलटी-सी बहीं, और बहकर जातीं कहाँ ? पीछे तो स्फीत हो गयी। वहाँ आगे बहना रुक गया और पीछे गयी नहीं। वेग पीछेका आ रहा था तो मानो मिलनेच्छासे व्याकुल होकरके, भगवान् श्रीकृष्णकी ओर हृदय-आलिंगन करनेके लिये ऊपर बढ़ीं। नदियोंने सोचा कि (श्रीगोपांगनाएँ सोच रही हैं) संसारकी ओर जानेवाली वृत्ति सदा रही है। इसलिये जगत्‌के सम्बन्धोंको सम्बन्ध मानकर उनकी तरफ लोगोंका

जीवन जाता है। समुद्र भी एक जागतिक चीज है। समुद्रके साथ नदियोंका सम्बन्ध है पति-पत्नीका। नदीका समुद्रकी ओर जाना सांसारिक गतिके अनुसार उचित ही है। श्रीकृष्ण सबके स्वामी हैं, सबके अन्तरात्मा हैं, सबके आत्माके आत्मा हैं तो उनके वंशी-निनादको सुनकर, जब चित्त उनकी ओर आकृष्ट होता है तब जगत्के सारे सम्बन्धोंको छोड़कर-तोड़कर, उन्हींका स्पर्श पानेके लिये व्याकुल चित्तसे एकमात्र उन्हींकी ओर दौड़ पड़ना यह धर्मनाश नहीं परम धर्म है। श्रीकृष्णके साथ मिलनेकी नदियोंकी महत्त्वाकांक्षा, उनकी तीव्रतम उत्कण्ठा यह कोई भी दोषकी चीज नहीं बल्कि यही एकमात्र प्राप्त करनेकी वस्तु है।

एकमात्र जीवनकी साध होनी चाहिये कि सबको तजकर, सारे सम्बन्धोंको तोड़कर, जगत्से जगत्में जानेवाली गतिको मोड़कर केवल भगवान्की ओर प्रवृत्त हो जाना। अपने सारे साधनोंके द्वारा यही सबका, जीव-मात्रका परम कर्तव्य है, परम गुण है। यहाँ शुकदेवजीने 'मुरारे' शब्द कहा 'आलिंगन स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे'। उन्होंने अपनी तरंगरूपी भुजाओंसे मुरारीको आलिंगन करनेके लिये उत्थान किया, उनमें आवर्त पड़े। यह जिज्ञासा होती है कि मुरारी नाम भगवान्का कैसे पड़ा ? यहाँपर मुरारी कहनेकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? और कुछ कह देते। प्राचीनकालकी बात है कि एक समय एक मुर नामक दैत्य था। यह कथा वामन पुराणमें आती है। कश्यप ऋषिके औरससे और दनुके गर्भसे मुर नामक एक असुरका जन्म हुआ। मुर असुर-भावापन्न था। उसके भाई-बन्धु भी सभी असुर ही थे। असुरोंका स्वभाव होता है कि स्वाभाविक देवताओंसे लड़ना। आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य भी दैवी सम्पत्तिवालोंसे लड़ते रहते हैं। उनको देव सुहाता नहीं। मुरके भाई-बन्धुओंने देवताओंके साथ बार-बार युद्ध किये। देवता चाहे एक बार हारें लेकिन अन्तमें जीत उन्हींकी होती है, आखिर देव-बल जो है। जहाँ भगवान्का आश्रय है वहीं विजय है। तो देवताओंकी विजय हुई। बार-बार दैत्य लोग हारकर बलहीन हो गये। मुरने सोचा कि कहीं हमको भी देवता लोग मार न दें। इसलिये उसने मरणके भयसे भीत होकर ब्रह्माजीकी आराधना बहुत कालतक की। ब्रह्माजी उसकी आराधनासे संतुष्ट हो गये। ब्रह्माजीने कहा—देख चाहते हो बोलो ? तो उसने कहा, महाराज ! मैं जो माँगू उसे आप दे दें तब तो बात करूँ। तब बोले—तुमने मेरी आराधना की है, मैं तुम्हारी आराधनासे अत्यन्त कृतज्ञ हो गया, तुम जो माँगोगे सो दे

दूँगा। फिर उसने ब्रह्माजीसे वचन लेकर कहा कि—मेरी प्रार्थना है कि मैं युद्धक्षेत्रमें या कहीं भी अपनी हथेली जिसके अंगपर रख दूँ वह मर जाय! वह चाहे अमर ही हो। ब्रह्माजीने कहा कि देवता तो अमर हैं। तो बोला वह चाहे अमर ही हो। मेरी हथेली जिसपर पूरी-पूरी टिक जाय वह मर जाय। यह वरदान चाहिये। असुरोंकी बुद्धि जो होती है वह माया विमोहित होती है। यह अपनी जानमें ऊँची-से-ऊँची चीज माँगते हैं पर वे विनाश ही माँगते हैं। कोई ऊँची चीज माँगता हो—भगवान्‌को माँगता हो सो नहीं। हथेली जिसके ऊपर रख दें वह उसी क्षण मर जाय, यह माँगा। ब्रह्माजीने कहा कि—'ठीक है मंजूर है।'

वर प्राप्त करनेपर यह बात तमाम जगह फैल गयी। वह अब देवताओंसे, गन्धर्वोंसे, यक्षोंसे, किन्नरोंसे जा-जाकर भिड़ा। जहाँ-जहाँ गया वहाँ सब लोग पहले ही कह दें कि, 'भाई! हम तो हार मानते हैं। तुम्हारी जय हो!' कौन लड़े? इस प्रकार मुर दैत्य ब्रह्माजीके वरदानसे बलवान् होकर त्रिभुवनमें घूमा। किसीकी हिम्मत नहीं हुई कि लड़े। किसीका साहस नहीं हुआ कि उससे युद्ध करे। फिर वह गया यमराजके पास इस आशयसे कि यही सबको मारनेवाला है इसीको मारो। वहाँ पहुँचकर यमराजसे कहा लड़ो? यमराजजीने बुद्धिमानीसे काम लेकर उससे कहा कि, 'मैं तो निर्बल हूँ। मुझसे तुम क्या लड़ोगे? तुम्हें लड़ना ही है तो मैंने सुन रखा है कि वैकुण्ठका जो नारायण हैं, वह बहुत बलवान् है। देवताओंका सारा बल वहींसे प्राप्त होता है। उसको तुम समाप्त कर दो तो तुम्हारी जीत सदाके लिये हो जायगी और तुम्हारा काम बन जायगा।' दैत्यकी समझमें यह बात आ गयी। वह वैकुण्ठ लोकको गया।

समागतं प्राह मुने मधुघ्नः प्राप्तोसि केनासुर कारणेन।
स प्राह योद्धुं सह वै त्वयाऽद्य तं प्राह भूयः सुरशत्रुहन्ता।।

(वामन पुराण ६१। ७३)

वहाँ जाकर नारायणके पास खड़ा हो गया। नारायणने कहा—यहाँ क्यों आये हो? क्या काम है? उसने कहा तुमसे लड़ने आया हूँ। युद्ध करने आया हूँ। मुरकी यह बात सुनकर नारायण बोले—मुर तुम आये तो हो मुझसे लड़नेके लिये परन्तु जैसे किसीको बुखार जोरसे आ जाय और उसका कलेजा काँपे उसी प्रकार तुम्हारा कलेजा क्यों काँप रहा है?

यदीह मां योद्धुमुपागतोऽसि तत् कम्पते ते हृदयं किमर्थम्।

ज्वरातुरस्येव मुहुर्मुहुर्वै तन्नास्मि योत्स्ये सह कातरेण।।

(वामन पुराण ६१। ७४)

मैं तुम्हारे जैसे डरपोकसे नहीं लड़ता। उसने कहा कि—मुझे डरपोक कहते हो ? तो बोले हाँ, तुम डरपोक हो, नहीं तो कलेजा क्यों काँपता ? बोला—कहाँ काँप रहा है ? उन्होंने कहा—तुम हाथ लगाकर देखो—काँप रहा है कि नहीं ? जैसे ही उसने हाथ रखा यह देखनेके लिये कि कलेजा काँप रहा है कि नहीं वैसे ही जैसे पेड़की जड़ कट जाय उसी प्रकार वह गिर पड़ा। गिरते ही भगवान्‌ने धीरेसे उसका सिर सुदर्शन चक्रसे उतार लिया। अब सारे-के-सारे देवता इकट्ठे होकर भगवान्‌के पास आये—सबने आकर कहा महाराज ! आपने सबको बचा लिया नहीं तो यह किसीको छोड़ता नहीं। फिर उस दिनसे भगवान्‌का नाम पड़ा मुरारी—मुरके शत्रु, मुरको मारनेवाले।

फिर गोपियोंको शंका हुयी कि मुरारी तो नारायण थे, यह तो श्रीकृष्ण हैं। गोपियोंके प्रियतम तो श्रीकृष्ण हैं। यहाँ गोपियोंको तो अपना काम करना है। उनको गर्गजीकी कही हुई बात याद आ गई कि यह नारायणके समान शक्तिवान्, गुणवान्, बलवान् हैं। यह बात यशोदा मैयाने गोपियोंको बता दी थी। गोपियोंने सोचा कि जैसे मुरारीने, भगवान् नारायणने मुरका नाश किया था उसी प्रकार ये हमारे क्लेशका नाश करेंगे। इसलिये मुरारी नामसे उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें आया है कि—

मुरा क्लेशे च सन्तापे काम भोगे च कर्मणां।
दैत्यभेदे हृषीकेशा मुरारीस्तेन कीर्त्यते।।

मुरारी शब्दका अर्थ यहाँ किया है क्लेश, संताप, कामना—कामभोग और दैत्य विशेष। यह चारों मुर नामसे सम्बोधित होते हैं। तो व्रजरमणियोंने देखा कि ये मुरका नाश करनेवाले हैं। मुर सबके ऊपर अत्याचार करता था। नारायणने उसे मारकर देवताओंको निश्चिन्त किया। हम लोग भी मुरारीके समान ही गुणशाली श्रीकृष्णकी प्रेमी हैं। उन्हींके यहाँ उन्हींकी अनुगत हैं। उन्हींके साथ शिशुकालसे खेले, रहे, निवास किया है। यह मुरहर जो है—मुरारी, जैसे उनको दण्ड दिया और दण्ड देकरके जैसे देवताओंको निर्विघ्न कर दिया, सुखी कर दिया, उसी प्रकार हमारी जो संसारकी कामना है। जिसके कारण हम यहाँ आज बँधी है। संसारका मोह नहीं होता, संसारका काम नहीं होता, तो हम आज भगवान्‌के चरणोंकी

सेवामें जा पहुँचती। अरे ! देववधूएँ देखने आ गयीं, गायें समीप आ गयीं, वन-भूमिने शृंगार कर लिया परन्तु हम ही अभागी ही क्यों रह गयी ? जरूर हमारे मनमें काम है। श्रीकृष्ण नारायणके समान गुणकारी हैं, अतः मुरारी हैं। मुर शब्दका अर्थ काम है ही इसलिये यह हमारी कामनाको नाश कर दे। केवल कामना ही नहीं क्लेश और संतापको भी (मुर शब्दका अर्थ यह भी है)। उनकी अप्राप्तिमें हमें बड़ा क्लेश हो रहा है। बड़ा संताप हो रहा है। हम वहाँ जा नहीं सकती। वे भगवान् स्वयं क्लेश और संतापके अरि हैं क्योंकि मुरारी हैं। हम तो कामनाके द्वारा बँधी हैं तो हमारे क्लेश, संताप, विरह-ताप और भगवान्‌के अमिलन-क्लेशको ये मुरारी ही क्यों न मिटा दें। जैसे उन्होंने मुर दैत्यका नाश किया उसी प्रकार हमारे संतापका, हमारे क्लेशका वे नाश क्यों नहीं कर दें जिससे हमारा प्रेम विशुद्ध हो जाय। उनके मिलनसे हमारा संताप और क्लेश सर्वथा दूर हो जायेगा। इस भावसे शुकदेवजीने मुरारी शब्दका प्रयोग किया। ऐसा भाष्यकारगण कहते हैं।

गोपियोंने देखा कि यमुना और मानस-गंगा आदिके व्यवहारसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि, इनमें जो चक्र और आवर्त पड़े हैं; उससे उनका हृदय मिलनेच्छाके भावसे अत्यन्त आंदोलित हो रहा है, नहीं तो चक्र क्यों पड़ते ? इसी कारण ये समुद्रकी बात, संसारकी बात भूलकर भगवान्‌की ओर मुड़ चलीं और तरंग-भुजाओंके द्वारा भगवान्‌का वक्षःस्थल वेष्टन करनेके लिये ऊपरको उठीं। यह काम और प्रेमका एक अन्तर होता है। जिनमें सांसारिक कामका उदय होता है, वे काम्य वस्तुको प्राप्त करते ही उपभोग करने लगते हैं। भूख लगी, अमुक प्रकारके भोजनकी आकांक्षा थी वह मिलते ही खाने लगते हैं हम, देर नहीं करते हैं। अर्थात् काम्य वस्तुके प्राप्त होते ही तत्काल उसकी उपभोग-वस्तुके रूपमें परिणति होती है। यह कामका स्वभाव है। पर प्रेमी यदि कभी प्रेमास्पदको पाता है तो वह प्रेमास्पदको पाकर उसका उपभोग नहीं करना चाहता है। उसकी सेवा करना चाहता है। प्रेम जो है वह कामनाशून्य और स्वसुखवांछारहित है। काम स्वसुखवांछाका ही नाम है। प्रेमी जब अपने प्रेमास्पद भगवान्‌को प्राप्त करते हैं तो वहाँपर उन्मत्त होकर उस प्राप्य सुखको दूसरे कामके लिये, सेवाके लिये सुअवसर नहीं मिलता। कामनामें काम्य वस्तुके प्राप्त होते ही उपभोग करनेकी प्रवृत्ति होती है। जहाँ काम नहीं प्रेम होता है वहाँ प्रेमास्पदके मिलनेपर उपभोगकी इच्छा तो है ही नहीं, स्वसुख तो है नहीं तब वहाँ सेवादिके द्वारा उसको सुख

पहुँचानेकी चेष्टा होती है। प्रेम सुख देता है, काम सुख पाना चाहता है। प्रेम सेवा करता है काम सेवा कराता है। प्रेम प्यार करता है, काम प्यार पाना चाहता है। यह काम और प्रेमका अन्तर है। कामका तात्पर्य उपभोग और प्रेमका तात्पर्य सेवा है। इसीलिये कामुक और प्रेमियोंका बड़ा भारी पार्थक्य है। इन दोनोंकी समता कभी हो ही नहीं सकती।

श्रीगोपांगनाएँ थीं तो बड़ी प्रेमिका। उन्होंने मुरलीकी ध्वनिको सुनकर भी जहाँ श्यामसुन्दर अपने प्रेमियोंके द्वारा, गायोंके द्वारा, मयूरोंके द्वारा, पशु—पक्षियोंके द्वारा, नदियोंके द्वारा जो सुख प्राप्त कर रहे हैं; उसमें व्याघात करनेके लिये स्वयं जानेकी चेष्टा नहीं की। उन्होंने उनके सुखमें सुख मानकर सेवा भावसे उनका वर्णनमात्र किया। लेकिन ये नदियाँ जो हैं वे कामुकाकी भाँति कृष्णके निकट आते ही तरंग भुजाओंके द्वारा, उनका आलिंगन करनेको दौड़ीं। उन्होंने सेवाकी चेष्टा नहीं की। सबसे पहले उपभोगकी चेष्टा की, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी चेष्टा नहीं की। श्रीकृष्ण हैं मुरनाशक। ये नारायणके तुल्य गुणशाली हैं, ये हैं कामनाशक। यमुना, मानस—गंगा आदि नदियोंको उन्होंने काम—ग्रस्त देखा। यह एक नियम होता है कि जब कोई चीज किसीको मिलती है तो उसको ले लेता है। वह स्थिर भावसे खड़ा नहीं रहता है। झुककर ले लेता है। हाथ लगाता है। उसको प्रेमसे ग्रहण करता है। यहाँ श्रीकृष्ण तो हिले ही नहीं, नदियाँ ऊपरको उठीं और ये वैसे ही दण्डकी भाँति खड़े रह गए। इन्होंने उनके ऊपर आते हुए प्रवाहको रोक दिया। तुम यहाँतक नहीं आ सकती। हमारे वक्षःस्थलका स्पर्श प्रेमी ही कर सकता है, कामी नहीं। जिसने अपने सारे कामोंका सर्वथा त्याग कर दिया। जिसमें भोगासक्तिका लेश भी नहीं रह गया। वो हमारे वक्षःस्थलतक पहुँचकर मेरा आलिंगन कर सकता है। उसको हम छातीसे लगा सकते हैं पर जहाँ उपभोगकी प्रवृत्ति होती है, जहाँ कामना है, वहाँ हम स्पर्श नहीं करने देते। वे दण्डकी भाँति खड़े रहे मानों धक्का दिया उनको, वो जल ऊपरको उठा और वक्षःस्थलकी ओर न पहुँचकर फिर नीचेकी ओर चला गया। नदियोंने तो बाहु—प्रसारणके द्वारा आलिंगन करना चाहा परन्तु श्रीकृष्णने आलिंगन—दान नहीं दिया। तब ये बेचारी नदियाँ अपने प्रगल्भ व्यवहारसे लज्जित हुईं। उन्होंने सोचा कि हमारा यह व्यवहार प्रेमीका नहीं है। यह तो स्वसुखवांछा हो गयी। स्वसुखवांछा जहाँ है, वहाँ प्रेम नहीं। तो वे अपने प्रगल्भ व्यवहारसे लज्जित होकर

श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर गईं। कमल जो उनके हाथमें थे वे सारे भगवान्‌के चरणोंमें गिर गए। नदियाँ उनके चरणोंमें गिरकर अपना अपराध क्षमा कराने लगीं। उन्होंने कहा कि, 'महाराज ! हम तो इस लायक नहीं। हम तो आपकी वंशी–ध्वनि सुनकर दौड़ी, लेकिन हमारे मनमें स्वसुखकी कामना थी; इसलिये आपके वक्षःस्थल तक नहीं पहुँच सकीं, अब चरणोंमें गिरती हैं। अब आप हमारे इस दोषका नाश करें।'

व्रजरमणियोंने सोचा कि हमारी यह धारणा गलत है। यह जो नदियोंमें आवर्त आया, विपरीत गति हुई, जल–स्तम्भ हुआ, जल–स्फीति हुई अर्थात् जिस मार्गसे जा रही थीं वह मार्ग रुक गया। पीछेको लौटीं, उसमें भँवर पड़ने लगे और जल ऊपरको उठा, यह तो इनका प्रेम है। भला प्रेम न होता तो श्रीकृष्णकी ओर चलनेकी इनकी ऐसी कामना भी क्यों होती ही ? भोगोंकी ओर जाते हुए प्राणीको अगर श्रीकृष्णसे भोग–सुख पानेकी भी कामना होती है तो वह श्लाघ्य है। यह उनका प्रेम ही है। इस प्रेमसे ही इनमें ये चारों बातें आयीं—आवर्त हुआ, विपरीत गति हुई, जल–स्तम्भ हुआ और जल–स्फीति हुई, यह उनका प्रेम ही है, काम नहीं। इसलिये वे अपने आपको हीन–प्रेम मानकर, अभागिनी मानकर प्रेमस्वभावसुलभ दैन्यका अवलम्बन किया। प्रेममें एक स्वाभाविक दैन्य होता है, इसको स्वभावसुलभ दैन्य कहा है। प्रेमके स्वभावमें दैन्य होता है, अहंकार नहीं होता है। प्रेमी कभी अभिमान नहीं करता। वह तो अपनेको सर्वथा, सर्वदा—दीन, गुणहीन, मलिन मानता है। इसलिये उसके प्रेममें निरन्तर विशुद्धि होती रहती है। अगर अभिमान रूपी कालिमाको लगाकरके वह जाय और उसीको अलभ्य मान ले तो प्रेमका विशुद्धीकरण नहीं होता। प्रेम आगे नहीं बढ़ता। उसमें काम मिलकर उसे कलंकित कर देता है। प्रेम जो उत्तरोत्तर वर्धनशील है इसका कारण है प्रेमका स्वभावसुलभ दैन्य। उसकी जो दीनता है कि मेरेमें कोई गुण है ही नहीं। मेरेमें किसी प्रकारकी कोई भी ऐसी वस्तु ही नहीं है जो भगवान्‌को रिझा सके। मलिनता भरी है, कूड़ा भरा है, कचरा भरा है, दोष भरा है, मल भरा है, प्रेमकी कहीं गन्ध भी नहीं।

इस प्रकार दैन्यसे परिपूर्ण होकर श्रीगोपांगनाएँ सखियोंसे कहती हैं कि—हमारा जीवन तो दुर्भाग्यपूर्ण है। हमने न तो समीपसे प्राणभर श्रीकृष्णका वंशी–निनाद सुना, न तो हमने अपने घरवालोंकी उपेक्षा करनेका ही साहस किया, न हमने संसारके कार्योंको स्थगित किया। इन नदियोंने तो अपनी

संसारकी चालको स्थगित कर दिया। जो आगे बढ़ रही थीं उन्होंने उस चालको रोक दिया। पर हमने न तो संसारके कर्म—प्रवाहको स्थगित किया। न हमने श्रीकृष्णके लिये इनकी भाँति विपरीत गति होकर दौड़कर समीप पहुँचना चाहा। न हमने बाहु—प्रसारण किया और न हमने श्रीकृष्णके चरणोंमें कमलोपहार ही दिया। इसलिये हम अपनी तुलना इनके साथ कैसे करें ? यह नदियाँ तो महान् प्रेमिकायें हैं। हमलोगोंमें तो इनकी बराबरी करनेकी कोई चीज नहीं है। हाय ! हाय ! क्या करें ? हम गोपरमणियाँ न होकर यमुना, मानस—गंगा आदि जलाशय, नदियाँ ही बन जातीं तो इनकी भाँति सर्वत्याग करके उन्मत्ता होकर, विपरीत गति होकर उनके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये दौड़ पड़तीं। यह गोपी जन्मसे तो हमारा सारा—का—सारा सर्वनाश हो गया। हम घरमें बँधी, परिवारमें बँधी, आसक्तिमें बँधी, भोगोंकी कामनामें बँधी, हममें साहस नहीं है। भयसे, विषादसे भरा जीवन है। यह नदियाँ हमसे बहुत श्रेष्ठ हैं। गोपी जन्मकी अपेक्षा नदी जन्म करोड़ों—करोड़ों गुना श्रेष्ठ हैं। वे बोलीं—'जिन भावोंसे श्रीकृष्णको प्रियतम रूपसे प्राप्त किया जा सकता है, वे भाव तो इन नदियोंमें हैं। जिन्होंने अपनी चाल ही स्थगित कर दी। भगवान् न ही मिले तो उन्हें चक्कर आने लगे। द्रवित हो गया उनका जीवन। जिनके पास कमल मात्र थे और उन सभीको इकट्ठा कर लिया उपहार देनेके लिये। जो अपने आपको, अपने स्वभाव—स्वरूपको भूलकर, ऊपर उठकर, भगवान्के चरणोंके समीप पहुँचनेके लिये प्रस्तुत हो गयीं। गोपी जन्ममें हममें यह एक भी बात नहीं है।'

इसलिये हे सखी ! यदि हम कोई तपस्या करें, कोई तप करें जिससे व्रज—मंडलमें नदी होकर बहने लगें। अगर हम लोग पहले जानती तो नदी बनतीं। अब कैसे बने ? अब तो हमारा यह स्थूल शरीर नदी बनकर बहे भी कैसे ? यह तो एक मिट्टीका पुतला ऐसा बना है कि छलककर भी नहीं बहता। द्रवित भी नहीं होता। आगे कहती है कि—विधाता हमने क्या अपराध किया था कि हम सर्वभावसे श्रीकृष्णका सम्बन्ध प्राप्त होनेके लाभसे वञ्चित रहीं ? और इस गोपी जन्ममें, इस घरके जेलखानेमें आबद्ध रहीं, बन्द रहीं। हम किस दिन इस राज्यको प्राप्त करेंगी ? वह दिन कब हमारे लिये होगा जब श्रीकृष्णका सम्बन्ध पाकर कृतार्थ होंगी ? आज तो हम अभागिनी हैं। इस प्रकार वे महाभावशाली व्रजरमणियाँ यमुना मानस—गंगा आदि नदियोंकी स्थिति देखकर, हृदयमें नाना प्रकारके भावोंको देखकर,

हृदयके तन्त्रीको महाभावकी झंनकार देकर गाने लगीं। उनके अन्दरका महाभाव इस प्रकार प्रकाशित होने लगा। इतनेमें उन्होंने देखा कि वे तो अभी थोड़ी देर पहले धूपमें थी अब तो छाया हो गयी। इनकी ऊपरको दृष्टि गयी तो मेघोंको देखा और कहा कि सभी लोग सेवा करनेको तत्पर हैं। सेवा न करनेको तो हम ही हैं।

मेघोंकी सेवा

दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः संचारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्वपुषाम्बुद आतपत्रम्॥

(भागवत १०। २१। १६)

इस धूपमें जब श्रीकृष्ण, बलरामजी और अपने सखा ग्वाल-बालोंके साथ गाय चरानेके लिये व्रजके वनमें जाते हैं और जब बारम्बार उच्च स्वरसे मधुर वेणुका गान करते हैं तो आकाशमें मेघ उदित हो जाते हैं। बादल उमड़ पड़ते हैं और वे श्रीकृष्णके प्रेमवश सारे आकाशमें व्याप्त होकर जलकण वर्षा करने लगते हैं। वे अपने अंगोंके द्वारा उनके छाते बन जाते हैं। यही तो प्रेमका लक्षण है कि प्रेमीकी सेवा करनेका जिसका उत्साह बढ़ जाय, जिसकी शक्ति बढ़ जाय, जिसका मन बढ़ जाय और केवल मनतक ही सीमित न रहे वह अपना सर्वस्व लगाकर उसको सुख पहुँचाने लगे। कृष्णानुरागिणी ये व्रजरमणियाँ वंशीनादको श्रवण करके प्रेमभावसे अधीर होकर यह सब बातें कहने लगीं। आत्मगोपन करनेकी चेष्टा उन्होंने की। यमुना आदिका नाम उन्होंने इसीलिये लिया। उनको इस रूपमें देखा और जब भाव आया तब गोपन कर लिया। हृदयमें प्रवेश करके ये खेलते हैं न! उनको स्पर्शदान देते हैं। उन्होंने देखा कि ये बादल जो आकाशमें घूमते रहते हैं, ये बड़े प्रेमी हैं क्योंकि इन्होंने श्रीकृष्णका रंग धारण कर लिया। मेघोंने श्रीकृष्णका रूप धारण कर लिया। उनका तो स्वाभाविक नीलनीरद वेश है। यह मेघ जो हैं यह उनकी सेवा करनेके लिये उनके अनुरूप बन गये।

सेवा करनेवाला सेव्यसे प्रतिकूल वेषवाला हो, तो वह सेवा क्या करेगा? सेवा करनेवालेका सबसे पहला धर्म है कि सेव्यके अनुकूल बने। जिसकी सेवा करनी है उसके मनके अनुरूप अपनेको बनावे। यह सबसे पहली बात है, नहीं तो सेवा करना चाहेगा अपने मनकी और वह सेव्यके प्रतिकूल

होगा। वह सेवा नहीं होगी। वह सेवाके नामपर दुःख पहुँचाना होगा।

मेघके अनेक रूप होते हैं। बादलोंमें जब नया—नया जल आता है उस समय जो नील—श्यामता होती है उसके साथ भगवान्‌के रंगका साम्य बताया गया है। यद्यपि यह पूरा साम्य नहीं रखता। यह संकेत है। कहते हैं कि इन बादलोंने पहला काम किया कि श्रीकृष्णकी सेवा करनेके लिये अपना वेष, अपना रंग उनके जैसा बनाया। बादल हमेशा आकाशमें नहीं रहते। गुप्त—गुप्त रहते हैं। बनते ही नहीं। श्रीकृष्ण जब वहाँपर आते हैं तो उनका दर्शन इन्हें बड़ा अच्छा लगता है। जब श्रीकृष्ण वनमें जाते हैं तो उनको खुला मैदान मिलता है। घरके अन्दर रहें तो बादल बेचारे सेवाका अवसर नहीं पाते। वे सोचते हैं कि ये अगर कहीं धूपमें बैठे हों तब सेवा करें। ये अगर छतके नीचे बैठे हों, चारों ओरसे किवाड़ बन्द हो तो बादल सेवा कैसे करें ? ये अवसर ढूँढ़ा करते हैं कि जब श्रीकृष्ण बाहर मैदानमें आयें तब उन्हें सेवाका अवसर मिले। क्योंकि श्रीकृष्णको प्रेम करते हैं, उन्हें प्यार करते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि हम तो व्रजमें रहकर भी आजतक वैसी सेवा नहीं कर सकीं।

मेघोंने श्रीकृष्णका रंग स्वीकार किया और बिजली जो स्वर्णिम है इसको धारण किया सेवाके लिये। उनके अंग—वस्त्रोंके रंगका अनुकरण करके। यह विद्युत—सा वस्त्र नहीं है। यह भगवान्‌के वस्त्र—सा विद्युत है। विद्युत भगवान्‌के अंग वस्त्रोंकी स्वर्णिम पीतिमाको लेकर सुसज्जित हुई है। इनको मेघोंने साथ रखा है कि श्यामसुन्दर कहीं यह न कह दें कि तुम तो पूरे रूपमें हमारे अनुकूल हो ही नहीं। सेवाके लिये पूरी अनुकूलता होनी चाहिये। श्रीकृष्णके अंगका वर्ण, उनका पीत—वसन, और जब ये मधुर—मधुर गरजते हैं तो मानों वंशीसी बजा रहे हैं। वे यह दिखा दिये हैं कि हम सब तरहसे अनुकूल हैं और आपकी सेवा सेवाभावसे करनेवाले हैं। 'सख्युर्व्यधात्' जैसे गोपबालक आपके सखा हैं वैसे हम भी आपके सखा हैं। सब तरहसे आपके अनुकूल बनना चाहते हैं। इस प्रकार प्रेमका व्यवहार दिखाकर वे सेवाका अवसर पाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं अच्छी बात है तुम सेवा करो।

उनकी सेवा ग्रहण करनेके लिये ही वे जब वनमें जाते हैं तो थोड़ी देरके लिये धूपमें चले जाते हैं। यद्यपि धूप उनको कष्ट नहीं देती। सूर्य भी तेज सम्पन्न रहते हुए भी उनका स्पर्श पाकर शीतल हो जाता है। क्षुधा है न उनको। उनका जो शरीर है दिव्य—वपु—सच्चिन्मय यह उत्तप्त नहीं

है। यह स्वयं शांति देनेवाला है। परम शीतल है। इस परम शीतल अंगसे स्पर्श पाकर जो रौद्र है—सूर्यका तेज—धूप—वह तेजोमय रहते हुए भी भगवान्‌के गुणको ग्रहण करके शीतल बन जाता है। जहाँ भगवान् हैं, वहाँ धूप भी जलाती नहीं, यह भाव है। पर भगवान्‌को धूपमें देखकर बादल कैसे रहें ? उनसे सेवा किये बिना रहा कैसे जाय ? भगवान् तो उन्हींके लिये धूपमें आये हैं। भगवान्‌को सेवाकी आवश्यकता नहीं है। वे लोगोंको सेवाका अवसर देते हैं। उनकी सेवा स्वीकार करके उन्हें धन्य करनेके लिये और मानते हैं उनका उपकार कि तुम हमारी सेवा करते हो। सेवाकी शक्ति, सेवाकी वस्तु, सेवाकी रुचि, सेवाकी प्रकृति, सेवाकी प्रवृत्ति यह कहाँसे आती है ? यह सभी उनसे ही आती है। मेघके पास यह वर्ण कहाँसे आया ? मेघके पास यह पीतवसनाविद्युत कहाँसे आयी ? मेघके पास मधुर—मधुर गर्जन कहाँसे आया ? मेघके पास वह छाया कहाँसे आयी ? मेघके पास बरसानेवाली शीतल—शीतल वह सुधा बूँदें कहाँसे आयी ? यह सब उन्हींसे आयी हैं। अपने सेवकोंको अपनी ही चीज देकर अपनी चीजके द्वारा, अपना रस देकर और उस रसके द्वारा, प्यासे बनकर; उस रसको उनके द्वारा प्राप्त हुआ कहकर पान करते हैं और उनकी सराहना करते हैं कि तुमने हमें बड़ा सुख दिया।

श्रीकृष्ण जब मध्या कालमें गोवर्धनके नीचे, यमुनाके पुलिनपर उपस्थित होते हैं और मेघ देखते हैं कि ये बड़े श्रान्त, बड़े क्लान्तसे हो गए तो उनमें सेवा करनेकी स्फूर्ति होती है। यह भी उनकी लीला है। श्रान्त, क्लान्तसे, थके हुएसे, गरमाए हुएसे न दीखें तो सेवा करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं हो। वे सेवकोंको धन्य करनेके लिये अपनेको सेवाके योग्य बना लेते हैं अभाववाला; कि इस समय खानेको नहीं है खानेको दो। सखाओंको ऋषि—पत्नियोंके पास भेजा, भूखे थोड़े ही मरते थे। दुर्योधनसे कहा हम भूखे नहीं मरते तुम्हारे यहाँ नहीं खायँगे। वे भूखे बन जाते हैं, प्यासे बन जाते हैं, थके—माँदे बन जाते हैं, गरमाए हुएसे हो जाते हैं। इसीलिये कि उनकी स्थिति देखकर सेवकोंके मनमें सेवा करनेकी आवे और फिर अपनी चीज उनको दे देते हैं कि आप इससे सेवा करो। वे स्वयं सेवाका अवसर देते हैं, सेवाकी योग्यता देते हैं, अपनेको सेव्य बनाते हैं और उनकी सेवाको स्वीकार करते हैं। यह उनकी महिमा है।

वे जब श्रान्तसे मालूम पड़ते हैं तो उस समय उनकी लीला होती है।

गायों—बछड़ोंको घेरकर छाँवमें ले जाते हैं और स्वयं कहते हैं कि भई ! यह तो बड़ी जलती हुई शिला है, यहाँ बड़ा धूप है चलो छायामें। बच्चोंसे कहते हैं कि ऐसी तप्त बालूकामें इन गायोंको कहाँ ले जायँ। यहीं खड़े गायोंकी सेवा करनी है, तो बोले इस गरमीमें क्या करें ? तो जरा वंशी बजा लें। वंशी जब बजाते हैं तो मेघ आकृष्ट होकर और आकाशमें समप्लावित हो जाते हैं और मृदुल—मृदुल जलकी बूँदें बरसाने लगते हैं। जल बरसानेके साथ—ही—साथ वे चारों ओर ऐसा छा जाते हैं कि गायोंके ऊपर, बछड़ोंके ऊपर, शावकोंके ऊपर छाता बन जाते हैं——चक्राकार। केवल छाता ही नहीं वे गर्म हो गए थे तो उनको नहलानेके लिये, घोर वर्षा नहीं करते हैं। यहाँ कहा कि जैसे फूल बरसते हैं, उसी प्रकारसे ये बूँदें कुसुमावलीकी भाँति भगवान्‌के सुतप्त अंगोंको सुशोभित व सुगंधित करती हैं। शीतल करती हैं। इस प्रकार ये मेघ भगवान्‌की सेवाका अवसर प्राप्त करते हैं। मेघोंके पास था ही क्या ? उनका अपना कुछ नहीं। परन्तु मेघोंके संचारसे और बूँद—बूँद जल बरसानेसे ऐसा लगता है कि मोतियोंकी लड़ीसे सजा हुआ बड़ा सुन्दर छाता हो। बूँदें मानों छोटी—छोटी बड़ी सुन्दर मुक्ता हैं। इन मुक्ताओंकी चारों तरफ लड़ियाँ हैं और बीच—बीचमें भी उसकी लड़ियाँ हैं। इन लड़ियोंसे सजा यह छाता है। इन मेघोंके पास बस यही एक चीज है। इस प्रकार मानों मेघोंने अपनी देह—सम्पत्ति, और धन—सम्पत्ति यह दोनों श्रीकृष्णके सुखके लिये अर्पित कर दी।

मेघोंकी इस लीला—क्रियाको देखकर श्रीगोपांगनाओंको ऐसा भास होता है, कि देखो ये मेघ धन्य हैं, जिन्होंने अपनी देह रूपी धनको और वर्षा रूपी मुक्ताओंको—इन दोनोंको श्रीकृष्णके लिये समर्पित कर दिया। मनुष्यके पास देह है और देह—सम्बन्धी पदार्थ हैं, बादलोंके पास अपना देह है और जलकी बूँदें उनका धन है। इनकी दोनों सम्पत्ति—देह और धन श्रीकृष्णके सुखके लिये हैं। अपना सुख वहाँ कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्णके सुखार्थ उन्होंने उनका विनियोग कर दिया। अब गोपी कहती है कि, 'सखियों ! ये मेघ जड़ हैं और जड़ होते हुए भी इनका सौभाग्य हमसे करोड़ों—करोड़ों गुना अधिक है। हमने तो किसी भी दिन आजतक अपने देहके द्वारा और अपने धनके द्वारा श्रीकृष्णको सुख नहीं पहुँचाया है। किन्तु इन मेघोंने धूपका ताप मिटानेके लिये छातोंकी तरह अपने देहको बिछा दिया। स्वयं गरमीमें, सूर्यके उत्तापमें, सूर्यकी सारी गरमी अपने ऊपर अपनी सारे देहको बिछा दिया, छाता बनाकर कि कहीं उसमेंसे

जरा—सी भी धूप पहुँचकर श्रीकृष्णको उत्तप्त न कर सके। देहको बिछानेके बाद भी उन्होंने सोचा कि नीचे तपी हुई बालू थी, तपी हुई शिला थी, केवल छातेसे तो उसकी तपिश मिटेगी नहीं—वह तो जलसे मिटेगी। तपती हुई चीज ठण्डी कैसे हो ? शरीर भी उनका उत्तप्त है। जिस बालुकापर उनके पैर हैं वह भी जल रही है। इसलिये अपनी देहको छाता बनाया और जो अपना घन था—वारिद जलको इसीलिये संचय रखते हैं—उस जल—बिन्दु समूहको सारा—का—सारा बरसा दिया श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये। व्रजरमणियाँ कहती है कि—विधाता गोपी न बनाकर आकाशके बादल ही बना देते तो हम भी आज इन बादलोंके साथ श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये अपनी देह और घन दोनोंको दे देती। पर हाय ! हाय ! यह जो गोपी जन्म हम अभागिनोंको मिला है इससे इस सेवा—सुखसे हम वञ्चित रहीं।

इसका अर्थ है कि श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेका जो कार्य कर सकते हैं वही धन्य हैं। हम रमणियाँ हैं इसीलिये कोई श्रीकृष्णको सुख पहुँचाती हों ऐसी बात नहीं है। हम क्या करें ? हमारे श्रीकृष्णको देखकर और उनके वंशीनादको सुनकर जो कोई भी भावके आवेशमें मत्त होकर, अपना सर्वस्व देकर, श्रीकृष्णको सुख पहुँचाता है वही वास्तविक प्रेमी है। हम तो श्रीकृष्णको जरा भी प्रेम नहीं करतीं क्योंकि हमारे अन्दर धैर्य, शील, कुल—लज्जा, मान, भय, विषाद इत्यादि बन्धन भरे पड़े हैं, जिससे हम सेवा नहीं कर सकतीं। हमारे लिये तो दर्शन भी दुर्लभ। वहाँतक तो हम जा भी नहीं पातीं। हमारी अपेक्षा तो इस व्रजके पशु—पक्षी और आकाशके मेघ भी अधिक सौभाग्यशाली हैं। यह श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं और उनको सुख पहुँचाते हैं। हम प्रेमहीना वंशीनाद श्रवण करके भी घरोंमें बैठी हैं। हमारे समान भाग्यहीना कौन है ? इसी प्रकार वे मेघोंकी प्रशंसा करती हैं।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके वंशी निनादको श्रवण करके, भावावेशमें उन्मत्त—सी हुई सौभाग्यवती श्रीगोपांगनाएँ—मुरलीधरकी प्रशंसाकी चाहसे—भगवान् श्रीकृष्णके साथ जिनका किसी प्रकारसे संग हो रहा है, जिनको भगवान्का किसी प्रकारसे सम्पर्क प्राप्त हो रहा है उनको बड़ा सौभाग्यशाली, उनको बड़ा पुण्यवान मानकर अपनेको अभागिनी बताती हैं और अपने अन्दरकी जो मिलनेच्छाकी भावना है उसको गोपन करती हुई भी गोपन रख नहीं पा रही हैं। इस स्थितिमें उन्होंने वनका गमन करनेके बाद मानस—गंगा, यमुना आदिके नदी—भावोंका वर्णन किया और वह इस भाषामें किया कि

जिससे उनके अपने मनोभाव प्रकट हो गए। उन नदियोंके हृदयमें किस प्रकारके भाव उदित हो रहे हैं, यह उन्होंने बताया। मानों नदियाँ भगवान्‌से मिलनेके लिये विपरीत गति हो गयीं, उलटी चलीं। फूलोंका, कमलोंका उपहार लिया और नीचे न जाकर ऊपर उठीं और भगवान्‌के वक्षःस्थलका स्पर्श प्राप्त करनेका प्रयास किया। वहाँसे वापस गिरीं और भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपना उपहार देकर, भगवान्‌के चरणोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण कर लिया। नदियाँ बड़ी सौभाग्यशालिनी। इस प्रकार नदियोंके वर्णनमें उनके अपने मनोभाव प्रकट हो गए। मनोभावोंको छिपानेका प्रयास अभी जारी है और योगमाया उनके सामने नये-नये दृश्य उपस्थित करती है। उसके बाद ही दूसरा दृश्य आया। गोपबालक और दाऊजीके साथ, गायोंके साथ, बछड़ोंके साथ उनको धूपमें देखकर बादलोंके मनमें सेवा करनेकी बात आ गयी।

सेवक लोग जो सच्चे होते हैं वे सेवाका अवसर ढूँढ़ा करते हैं। वे बने हुए सेवक नहीं होते हैं। वे अपनेको सेवक घोषित नहीं करते हैं। जब सेवाका मौका नहीं होता तब वे आस-पास घूमघामकर, हम सेवक हैं इस प्रकारका विज्ञापन नहीं करते। लेकिन नित्य-निरन्तर उनकी वृत्ति सेवाका अवसर ढूँढ़ती रहती है और जहाँ कहीं अवसर मिलता है वहीं अपना सर्वस्व देकर सेवामें प्रवृत्त हो जाते हैं। सेवकको होना चाहिये स्वामीके अनुकूल आचरण करनेवाला।

मेघोंने, बादलोंने उनकी अनुकूलता प्राप्त की। उनके समान अपना श्याम-वर्ण बनाया। उनके समान सरस होना चाहिये तो अपने अन्दर जल भरा। उनके साथ जो उनके अंगोंपर विराजित पीत-वस्त्र है विद्युत-सदृश उसके लिये बादलोंने बिजलीको अपने साथ रखा। यों अनुकूल बनकर जहाँपर श्रीकृष्ण, बलराम, गोप, गायें, बछड़े सब थे वहाँपर उन्होंने अपने सारे अंगोंको, देहको धूपमें बिछा दिया। उनपर एहसान नहीं है कि हमने तुम्हें धूपसे बचा दिया। हमें बदलेमें कुछ दो यह माँगते नहीं हैं और त्याग इतना है कि सूर्यके निकट, बहुत ऊपर, सूर्यके निकटस्थ स्थानोंमें, आकाशमें अपने सारे शरीरको बिछा दिया। कहींपर भी जरा-सी भी धूप या सूर्यकी गरमी आकरके श्रीकृष्णके बदनको तपा दे इस प्रकारका जरा-सा भी कहीं छिद्र नहीं रखा। फिर उनके मनमें स्वाभाविक आया कि छाया तो हो गई उन्हें, धूप नहीं प्राप्त हो रही है। पर ये धूपमें खड़े थे और जमीन तो जल

रही है तथा जिन शिलाओंपर खड़े थे वे शिलाएँ तो तप्त थीं। घास भी गरम हो गयी थी वहाँ इनके बदन भी गरम हो गये थे। तो उन बादलोंके पास जो बढ़िया घन संचित था—छोटी-छोटी बूँदें—उनको बरसाना शुरु किया अर्थात् अपनी देह सम्पत्ति और अपनी धन-सम्पत्ति दोनों भगवान्‌की सेवामें उन्होंने अर्पण कर दी। मानों एक प्रकारका बड़ा विशाल छाता बन गया जो सब तरफसे आच्छादित किये हुए है और जिसमें बरसती हुई छोटी-छोटी बूँदे सुन्दर मोतियोंके समान चमक रही हैं। वह बूँदे ऐसी बड़ी-बड़ी नहीं थीं जो आघात करें और शरीरपर चोट पहुँचातीं। औरोंकी तो बात ही नहीं जैसे फूल होते हैं, फूलोंमें पंखुड़ियाँ होती हैं इस प्रकारसे—**प्रेमप्रवृद्ध तदितः कुसुमावलीभिः**' (भागवत १०। २१। १६)

मानों फूलकी पंखुड़ियाँ हों। अब प्रश्न आता है कि फूल कहाँसे प्राप्त हुए भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ानेके लिये। यह सरस पुष्प कैसे मिले उनको। ये '**प्रेमप्रवृद्धः**' प्रेमकी वृद्धिसे मिले। उनके अन्दर जो प्रेम था, वह प्रेम ही सरस बूँदे बन गया और फिर वह बूँद भी कैसी, फूलोंके समान बड़ी सुकोमल। दो तरहसे पूजा की '**प्रेम प्रवृद्धः कुसुमावलीभिः**' (भागवत १०। २१। १६) और '**स्ववपुषा**'—उन बूँदोंके द्वारा और अपने शरीरके द्वारा। अपना देह और अपना धन, जो कुछ मेघोंके पास था वह सारा-का-सारा समर्पण कर दिया भगवान्‌की सेवामें, उनकी गरमी मिटानेके लिये।

श्रीगोपरमणियोंने वर्णन किया मेघोंके सौभाग्यका और कहा, सखी! यह सौभाग्यवान् तो मेघ ही हैं। हम लोग तो सर्वथा अभागिनी हैं। केवल वर्णन करके रह जाती हैं। कोई सेवा तो करती नहीं। हम दूर-दूरसे देख-देख करके कुछ बातें कह देती हैं पर उनकी सेवामें हम अपनेको जरा भी अर्पण नहीं कर पातीं।

श्रीगोपांगनाओंने नदियोंके बहाने जो वर्णन किया था उसमें उनके मनोंका भावों कुछ प्रकट-सा होने लगा। इससे वे कुछ लज्जित-सी होकर अपने आन्तरिक भावको गोपन करनेके लिये इन मेघोंका वर्णन किया जिससे कि वह बात दब जाय। किंतु इस समय महाभावका उच्छ्वास उनके हृदयमें उछल रहा है, उठ रहा है। मिलनेच्छा अत्यन्त प्रबल हो रही है। इसलिये आत्मगोपनका प्रयास बहुत देरतक नहीं चला। इसके बाद ही उनको दिखाई दीं भीलनियाँ जो वनोंमें रहती हैं, वनचारिणी हैं—और वे फिर कहने लगीं कि, 'सखियों! देखो, श्रीकृष्णके साथ वर्णसाम्य होनेसे,

उनका स्वभाव देखनेसे यह पता लगता है कि ये महान्–महान् सौभाग्यशालिनी हैं। हम तो अभागिनी हैं। यहाँ फिर वही श्रृंगार-रस आ गया।

भीलनियोंकी दशा

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरुषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्।।

(भागवत १०। २१। १७)

श्रीगोपियोंने भीलोंको, भीलनियोंको याद किया। वृन्दावनके वन–प्रदेशमें पुलिन्दचारी भील इत्यादि बहुत–सी ऐसी जातियाँ रहती थीं जिनमें पुरुष पालकी ढोनेका काम शहर जाकर करते थे और स्त्रियाँ वनोंमें काठ, जड़ी–बूटी इत्यादि संग्रह करके, साग–सब्जी इत्यादि बेचा करती थीं। यह सब पुलिन्द–रमणियाँ––भीलनियाँ कभी श्रीकृष्णके पास नहीं आती थीं और श्रीकृष्णका भी उनके साथ कोई सम्पर्क नहीं था। किंतु कोई भी हो श्रीकृष्णकी मुरली–ध्वनि जिसके कानमें प्रविष्ट हो गयी फिर ऐसा कोई नहीं है जो श्रीकृष्णके प्रेमको प्राप्त न करे और उनके लिये व्याकुल न हो उठे। ऐसा कोई है ही नहीं। ये बेचारी उस समय घरसे निकली। जंगली लकड़ियाँ, काठ इत्यादि इकट्ठा करने निकली थीं और उसी समय मुरलीध्वनि सुनायी दी तो वे अति व्यथित हो गयीं और घूमते–घूमते सौभाग्यवश उस स्थानपर आ पहुँची जहाँ श्रीकृष्णके चरणोंमें लगी हुई कुंमकुम घासपर चमक रही थी। उनके मनमें आया कि यह जो घासपर लगी हुई कुंकुम है यह रस प्राप्त है। यह तो मदनमोहनके चरणोंके स्पर्शसे युक्त है। भगवान्‌के चरणसे जिसका सम्बन्ध हो जाय वह असाधारण चीज हो जाती है, कुछ भी हो। उन्होंने प्रशंसा की वनभूमि की, व्रजभूमिके रज–कणकी।

श्रीमदनमोहनके चरणोंके सम्बन्धयुक्त उन तृणोंको निहारने लगीं। श्रीकृष्णके पास स्वयं जा नहीं सकती, कोई सम्पर्क है नहीं। उनके हृदयमें प्रेम उमड़ा। प्रेमकी, मिलनकी एक अत्युत्कट–वासना उत्पन्न हो गयी जो बड़े सौभाग्यसे होती है। वे तृणोंपर लगी हुई कुंकुमकी सुगंध लेनेके लिये उसे सूँघने लगीं और उसको वहाँसे उठाकर, तोड़कर अपने बदनपर लेपन करने लगीं। उससे भी जब उन्हें शान्ति नहीं मिली तो अंतमें उस तृण लगे कुंकुमको उन्होंने अपने हृदयोंसे लगाया और हृदयोंपर उसका लेपन किया तब अपनी उस व्याधिसे उन्होंने शान्ति पाई।

यह कृष्णानुरागिणी महाभाग्यवती प्रेमस्वरूपा स्वसुखवांछारहित अखिलरसान्वितमूर्ति श्रीकृष्णदत्तचित्ता श्रीगोपांगनाओंने दौड़ने—घूमने वाली पुलिन्दरमणियोंकी अवस्थाको देखा नहीं, तथापि इस वंशीनिनादके श्रवणसे उनके हृदयमें जो भावोच्छ्वासका उदय हुआ, उनके मनमें जो स्फूर्ति हुई, मनकी आँखोंसे जो देखा उसका वर्णन अपनी सखियोंसे किया। वे अपना आत्मगोपन कर नहीं सकी। यह अवहित्थाभाव है। जहाँ अन्दरकी बात छिपाकर अपने मनकी बात कही जाती है उसे रसशास्त्रमें अवहित्थाभाव कहा है। इसमें श्रीगोपांगनाओंका हृदय संलग्न था। वे बार—बार आत्मगोपन कर रही थीं। एक बार मनका भाव कुछ प्रकट हुआ तत्काल ऐसा दूसरा प्रसंग आ गया जिससे वह छिप गया।

पहले गायोंका वर्णन आया। आत्मगोपन करनेके लिये, उन्होंने नदियोंकी बात कह दी। नदियोंकी बात इस रूपमें कहीं कि उनका आत्मगोपन करनेका भाव रह नहीं सका। नदियोंमें जिस प्रकारके हृदयका, उनकी गतिका, उनके प्रेमोच्छ्वासका, उनकी विपरीत गति की, वक्षःस्थलपर पहुँचनेकी चेष्टा की, कमलोपहार लेकर भगवान्‌के श्रीचरणोंपर अर्पण करनेकी तथा भगवान्‌के श्रीचरणोंको नदियोंने अपने वक्षःस्थलपर धारण किया इत्यादि भावोंके वर्णनसे उनका आत्मभाव प्रकट होने लगा। फिर तत्काल ही उन्होंने मेघोंका वर्णन किया। मेघोंने अपनी दो चीज दे दी—देह सम्पत्ति और धन—सम्पत्ति। वे छाते बन गए और उनके पास जो संचित जल था—घनराशि उसको उन्होंने कुसुमावलीके रूपमें बड़े छोटे—छोटे, सुन्दर—सुन्दर, मधुर—मधुर, कोमल—कोमल बूँदोंके रूपमें बरसाकर भगवान् जहाँ खड़े थे, उन तप्त शिलाओंको शीतल किया, वनभूमिको शीतल किया और भगवान्‌के श्रीअंगोंको, उनके सखाओं समेत शीतल किया। ऐसा कहते है कि जो उच्छ्वास उनके अन्दरका था वह फिर प्रकट हुआ। उस भावोच्छ्वासमें पुलिन्द—रमणियोंका वर्णन करनेपर उनके भाव प्रकट होने लगे। तब इन्होंने इस रूपमें कहा कि पुलिन्द—रमणियोंने वनमें घूमते हुए कोपलादि तृणसमूहको देखा जो भगवान्‌के चरणोंसे संस्पर्शित था। इस प्रकार जानकर उसको हृदयसे लगाया और बदनपर लेपन किया तथा अपनी मानसिक इच्छाको पूर्ण करनेकी चेष्टा की। अब प्रश्न उठता है कि कैसे उन्होंने देखा नहीं था। वंशीनादके श्रवणसे इनके हृदयोंमें जो प्रेमभावका उच्छ्वास प्रकट हो गया,

वह प्रेम जब उछलने लगा तो भक्तिके निर्मल भावोंमें अपने हृदयको सिक्त करके ये प्रेममयी बन गईं और उनके अन्दर सभी भावोंकी स्फूर्ति हो गयी।

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्त्यश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥

(नारदपाञ्चरात्र)

कहते हैं कि सालोक्य इत्यादि पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ हैं। जो कोई भी कुछ देकर बदलेमें इनको ले लेना चाहता है वह प्रेमी तो है ही नहीं। ठीक-ठीक दास्यभावको, सेवक-सेवकत्वको ही प्राप्त नहीं है। सेवाको वह बेचता है। सेवाका जो मूल्य ग्रहण करता है, मूल्य पानेके लिये जो सेवा करता है, वह ठीक-ठीक सेवक नहीं। जो केवल मूल्य देकर सेवकको टाल देता है, नौकरी देकर उसे हटा देता है कि तुमने काम किए और हमने पैसे दिये वह ठीक मालिक भी नहीं। स्वामी वह जो सेवकका चिरकृतज्ञ रहे और सेवक वह जो पानेके लिये सेवा न करे। निर्वाह तो दोनोंका होता है परन्तु उन दोनोंके भावोंमें त्याग रहता है। जबतक स्वसुखवांछाकी, अपने सुखकी इच्छाकी जरा भी कल्पना, लेश हृदयमें वर्तमान है तबतक प्रेमके अंकुरका उदय नहीं होता। चाहे वह वासना मुक्तिकी ही हो। पर जहाँ अहम्के मंगलकी कामना वर्तमान है मुमुक्षुके अन्दर मोक्षकी कामना है, वहाँ प्रेम नहीं होता है। मोक्ष-कामना कोई बुरी बात नहीं है। मोक्ष-कामनाका होना, मुमुक्षुताका प्राप्त होना यह कोई साधारण बात नहीं है।

सत्य, विवेकके द्वारा जब वैराग्यकी प्राप्ति होती है और वैराग्य जब षड्सम्पत्तियोंका उदय कर देता है तब कहीं मुमुक्षुता प्राप्त होती है। पर जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसे बन्धनका ज्ञान है। बन्धन बिना मोक्ष कैसा ? और जहाँ बन्धनका ज्ञान है वहाँ कोई अहम् है। अहम्के बिना बन्धन किसका और अहम् जहाँ है वहाँ मुक्तिकी कामना, अहम्में मंगलकी कामना है। तो अहम्के मंगलकी कामना भी जहाँतक मनमें वर्तमान है वहाँतक वह ठीक-ठीक सेवा नहीं कर सकता। वह मुक्त हो जायगा। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि जो भगवान्के प्रेमी सेवक हैं वे मुक्त तो हैं ही क्योंकि जबतक जगत्का दासत्व वे करते हैं, जबतक भोगोंका उनपर आधिपत्य है तबतक भगवान्की सेवामें उन्होंने अपनेको लगाया ही नहीं। वे तो भोगोंके गुलाम हैं। भोगोंके लिये भगवान्की सेवा करते हैं—भगवान्की

सेवा करना बड़ा अच्छा, किसी भी दृष्टिसे हो, इसका विरोध नहीं पर वह सेवा तो दीखती है न ! कि हमने सेवाकी आप हमारा काम कर दीजिये। लेकिन जो प्रेमी सेवक होते हैं वह बहुत आगे बढ़ते हैं। वो जानते हैं कि हम तो मुक्त हैं ही पर हम सेवासे मुक्त हो जायँ और हमें वह मुक्ति मिल जाय जो हमें सेवासे मुक्तकर दे तो हमारा प्रेमस्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।

(भागवत ३। २६। १३)

यह सात प्रकारकी मुक्तियाँ देनेपर भी मेरे सेवक मेरी सेवा छोड़कर उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकारके श्लोक विभिन्न पुराणोंमें बहुत जगह आये हैं प्रेमीकी, सच्चे सेवककी स्थिति बतलानेके लिये। सालोक्य आदि सद्लोक, अणिमादि सिद्धियाँ, इन्द्रपद, ब्रह्माका पद इत्यादि यह सब मुक्तियाँ हैं। यह सब-की-सब, महादेवी जो हरिभक्ति हैं इसकी दासी हैं। यह ठीक-ठीक भक्ति जहाँ आती है, कहनेकी भक्ति नहीं, वहाँ ये मुक्तियाँ और मुक्तियाँ दासता प्राप्त करनेके लिये अवसर ढूँढ़ा करती हैं कि हमें ये किसी प्रकार स्वीकार कर लें तो हम धन्य हो जायँ परन्तु ये स्वीकार करती नहीं हैं 'मुक्ति मुक्ति स्पृहायावत् पिशाची हृदि वर्तते' मुक्ति, मुक्तिको स्वीकार नहीं करते ये प्रेमीजन। ये स्वयं उपस्थित होती हैं।

यह व्रजरमणियाँ हैं भक्तिकी आधार, परम प्रेमवती, इनमें स्वसुखवांछाका सर्वथा अभाव है। अपने सुखकी कल्पना ही नहीं है। ये आत्मविस्मृत हैं। आत्मसमर्पित हैं। इनके पास यदि यह जानकारी आ जाय कि वृन्दावनमें रहनेवाली वनचारिणी भीलनियाँ ऐसा कर रही हैं—यह दीख जाय तो कौन-सी बड़ी बात। यह सिद्धिमें दीख जाती है। पदार्थ-विज्ञान इस बातको कर देता है। जहाँपर भगवान्‌की भक्तिका ठीक-ठीक उदय है, वहाँ भक्ति देवीकी कृपासे उनकी इच्छानुसार कहीं कोई दूरस्थ चीज इनको दीख जाय, उनके सामने आ जाय, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। व्रजरमणियोंने जब श्रीकृष्णके प्रेमावेशमें श्रीकृष्णके स्वरूपको देखा; वंशीनिनादको सुना और जब उनका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हुईं तब उनके भावोंके अनुरूप और अनुकूल जितने भाव थे सब उनके सामने प्रकट हो गए, प्रकाशित हो गए। उनके ज्ञान-गोचर हो गए, उनकी दृष्टिमें आ गए, उनके मनमें आ गए। इसलिये ये घरमें रहते हुए भी उन वनचारिणी पुलिन्द-रमणियोंको

जान गयीं और अपनी—अपनी सखियोंके साथ वार्तालापमें उसका वर्णन करने लगीं। श्रीकृष्णानुरागिणी व्रजरमणियोंने कहा, सखी ! यह वनचारिणी पुलिन्द—रमणियों—भीलनियोंने वनमें घासके खेतोंसे कुंकुमको लेकर जब अपने सर्वांगमें लेपन किया तब वे परमानन्द सिन्धुमें निमग्न हो गयीं।

एक होता है दुःखका प्रतिद्वन्दी सुख, एक होता है आत्यन्तिक सुख और एक होता है उस सुखका भी फल—वह है परम सुख। ऐसा प्रेमी लोग मानते हैं कि जितना भी विषयसुख है वह द्वन्द्वात्मक है, अनित्य है और वास्तवमें सुख है ही नहीं; दुःखमें ही सुखकी भ्रांति है। जितने भी जागतिक सुख हैं; वे भोगकालमें कामनाकी पूर्तितक ही सीमित हैं। वेदान्तवाले कहते हैं, ठीक बात है कि कामनाकी पूर्तिके समय कामना पूर्ण होनेपर क्षणकालके लिये चित्त स्थिर होता है और उस स्थिर चित्तमें सुखरूप आत्माकी छाया पड़ती है। वह आत्माकी छाया ही उनको सुखका अनुभव कराती है। वह सुख आता है आत्मासे न कि उस विषयसे। दूसरी कामना उत्पन्न होते ही वह छाया हटी कि फिर सुखका दुःख। दृष्टान्त देते हैं कुत्तेकी हड्डी चबानेसे। कुत्ता जा रहा, उसने रास्तेमें सूखी हड्डीको देखा तो उसे खाद्य वस्तु समझकर चबाने लगा। वह हड्डी थी बिल्कुल सूखी, जगह—जगह नोंक निकली हुई। जब वह हड्डीकी नोंक उसके जबड़ोंमें लगी तो उसमेंसे खून आ गया। कुत्तेको जब खूनका स्वाद लगा तो कुत्तेने भ्रमसे समझा कि यह सूखी हड्डीमेंसे रक्त आ रहा है। उसने और चबाया तो और चोट लगी, और चोट लगनेसे और खून आया, इधर वह खूनका स्वाद ले रहा है और उधर उसके जबड़ोंमें घाव हो रहे है। ठीक यही दशा भोग सुखकी है।

भोगसुख जब आदमी भोगता है तो वह आता है आत्मासे ही पर वह सुखके कालमें भी अन्दर आघात कर रहा है, घाव पैदा कर रहा है। जिसका दुःख और क्लेश उसके बाद उसके सामने आनेवाला है। यह जितने भी भोगसुख है उन्हें गीतामें तीन नाम दिये हैं। जगतको 'असुखम्' 'दुःखालय' और 'दुःखयोनयः' कहा है। सुख नहीं असुख है। दुःखोंका घर है, दुःखालय है और दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है दुःखयोनि है। बुद्ध भगवान्‌ने कहा 'जीवनम् दुःखम्' यह जीवन दुःख हैं सच्ची बात है। जितने भी संसारके सुख हैं वे सभी दुःखमें ही सुखकी भाँति भासनेवाले हैं। इसलिये यह द्वन्द्वात्मक है। सुख—दुःख दोनों हैं। सुखके बाद दुःख, सुखकी

कामनाकी पूर्तिमें सुख, कामनाका उदय होते ही फिर दुःख। इसी झमेलेमें ही सारा जीवन कट जाता है मनुष्यका।

'आत्यन्तिकसुख विश्नते' वह है आत्यन्तिक सुख। पर यह प्रेमी ऐसा मानते हैं कि यह जो निःश्रेयस है यही चरम फल नहीं है। चरम फल इससे आगे और है वह है भगवत्त प्रीति। उस प्रेमकी प्राप्तिमें एक परमानन्द प्राप्त होता है जिसकी तुलना कोटि-कोटि ब्रह्मानन्दसे नहीं हो सकती। ऐसा कहते हैं कि श्रीगोपांगनाएँ इस परमानन्दसे परिपूर्ण थी। परमानन्द रसमें वे निमग्न थीं। इससे उनको दिखाई दिया कि जो कुंकुमकण पुलिन्द रमणियोंके हृदयोंको शान्त कर देता है। किसीके तापको मिटा देता है। किसीके अशांत चित्तमें शांति ला देता है। किसीके उद्वेगको मिटाकर उसे सुखी कर देता है। वह जरूर भगवान्‌के चरणोंसे सम्पर्कित होना चाहिये। यह भला जगत्‌का कुंकुम, जगत्‌का तृण किसको शांति देगा ? यह तो हजार बार लगाते हो, न मालूम कितनी-कितनी चीजें मुँहपर लेपन करते हैं। रोज लोग साबुन लगाते हैं, क्या-क्या तेल लगाते हैं, इत्र लगाते हैं और न मालूम किस-किस प्रकारका वेश धारण करते हैं। किस-किसके साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं, स्पर्श प्राप्त करते हैं पर कहीं, शांति तो नहीं मिलती, सुख तो नहीं मिलता। क्यों नहीं मिलता है ? इसलिये कि वह भगवान्‌से सम्पर्कित नहीं है। भगवत्तचरणारविन्दविमुख-सम्पर्कित वह वस्तु है। भोग्य वस्तु है और भोग-वस्तुसे शांति नहीं मिल सकती है।

इसलिये उस कुंकुमको प्राप्त करके और उसके द्वारा अपने अंगोंको, वक्षःस्थलको, मस्तकको लिप्त करनेपर जब पुलिन्द रमणियोंको परमशांति मिल गयी तो गोपरमणियोंके मनमें निश्चय हो गया कि अवश्य ही यह श्रीकृष्णचरण सम्पर्कित कुंकुम है। फिर उन्होंने देखा कि इस कुंकुमको लगानेमें उनको जिस सुखकी प्राप्ति हुई है वह सुख भी साधारण नहीं है। दूसरे सुखकी आशा जिस सुखमें लगी हुई हैं, जो सुख अपूर्ण है, जो सुख अपने-आपको भुला नहीं देता वह अनित्य और अपूर्ण सुख, सुख नहीं होता है। उन्होंने जब इन पुलिन्द रमणियोंको देखा तो मालूम हुआ कि ये उस परमानन्दमें इतनी विभोर हो गयी हैं कि बार-बार उसका लेपन ही करती चली जा रही हैं। दूसरी चीज उन्हें सुहाती ही नहीं, आती नहीं और इसीमें उनको परमरसकी अनुभूति हो रही है। इससे गोपरमणियोंके मनमें और अधिक विश्वास हुआ कि निश्चय ही यह श्रीकृष्ण-चरण-सम्पर्कित है।

इसके बाद इन्हें दिखायी दिया कि पुलिन्द-रमणियाँ—(संतोंने, वैष्णवोंने उस चीजको देखा है तभी वे लिखे हैं) उस चरण सम्पर्कित नवाकुरोंपर लगे हुए कुंकुमको उन्होंने केवल लेपन ही नहीं किया, सूँघा भी।

भगवान्‌के श्रीअंगसे निरन्तर एक सुगन्ध निकला करती है। वह दिव्य सुगन्ध है। सारा जगत् दुर्गन्धपूर्ण है। जहाँपर भी विषय है, भोग है, प्रपञ्च है, माया है, वहाँ दुर्गन्ध है चाहे छिपी हुई ही हो। मनुष्यका यह शरीर बड़ा सुन्दर मालूम होता है। चित्तकी वृत्ति उसे देखकर बड़ी आकृष्ट होती है। परन्तु कुछ दिन नहाए नहीं तो दुर्गन्ध आने लगेगी और यदि उसमेंसे चेतनका बिछोह हो जाय तो उसके बाद चाहे वह शरीर किसी योगी या महात्माका ही हो, सड़ने लगता है। उसमेंसे बड़ी दुर्गन्ध आती है। लोग उसे सह नहीं सकते। वह दुर्गन्धपूर्ण है। उसमें बाहरकी लगायी हुई सुगन्ध कितने देर रहती है। नहा-धोकर बड़ी सुगन्धित वस्तुओंका लेपन कर लिया पर वह थोड़ी देरमें जब अन्दरका मल पसीनेके रूपमें निकलता है तो सारी सुगन्धको दुर्गन्धपूर्ण कर देता है। इसलिये जितना भी प्रापंचिक जगत्‌का सौरभ है, सुगन्धि है वह अल्पकालमें स्थित और कल्पित है। वास्तवमें यहाँ दुर्गन्ध-ही-दुर्गन्ध भरी है। यह ऊपरसे सजाया हुआ मलागार है। यह ऊपरसे सजाया हुआ पाखाना है, कसाईखाना है। रक्त, मज्जा, मेद, मांस, हड्डी, मल, कफ, विष्टा—यह सब जिस थैलेमें भरे हैं, उस कमरेको पाखाना कहें कि मन्दिर कहें बताओ ? इसके बाहरकी चमड़ीकी सुन्दरताको देखकर विमोहित होना; इसमें बाहरकी चीज लगाकर उस बदनको सुगन्धित मानना, यह तो सर्वथा-सर्वथा मूर्खता है, अज्ञान है। लेकिन जहाँ यह भौतिकता नहीं, जहाँ भोग नहीं, जहाँ प्रपंच नहीं, जहाँ सच्चिदानन्दमयता ही सर्वत्र पसर रही है वहीं असली सुगन्ध है, असली सौन्दर्य है। वह नित्य नवत्व निशील है। समरस तो है ही पर उसकी समरसता नित्यवर्धनशीलताके रूपमें सम है।

इसलिये भगवानसे सम्पर्कित, उनके श्रीचरणोंसे सम्पर्कित जो वस्तु है, वही सुगन्धिपूर्ण और वही ग्रहण करने योग्य है। पुलिन्द-रमणियाँ, भीलनियाँ उस तृणसमूहके ऊपर लगे हुए भगवत्चरणारविन्द-सम्पर्कित कुंकुमको देखकर उसकी सुगन्धिसे आत्मविभोर हो गयीं और उसको बार-बार लेकर लेपन करने लगीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्णके चरणोंसे ही इसका सम्बन्ध है। एक बात और है कि जहाँपर प्रेम होता है वहाँपर प्रेमीकी

सम्पर्कित कोई वस्तु उस प्रेमास्पदका अनुभव कराती है। भगवान्‌का नाम बड़ा सुन्दर, पर जिनको भगवान् प्यारे नहीं हैं, उनके लिये सुन्दर नाम भी मीठा नहीं होता है। भगवान्‌में जिनकी प्रियता नहीं शत्रुता है उनको नाम सुनते ही बड़ा कड़वा मालूम होता है। वहाँसे वह भाग जाना चाहते हैं लेकिन अगर भगवान्‌में प्रेम है और दूरसे कहीं किसीके द्वारा उनका नाम कानमें आ गया तो नाम लेनेवाला बड़ा प्यारा मालूम होता है। जहाँ प्रियता है वहाँ प्रत्येक वस्तु उस प्रियताको बढ़ानेवाली होती है। भगवान् श्रीरामचन्द्र शृंगवेरपुरमें ठहरे, एक सिंचिता वृक्षके नीचे। वहाँ रात्रिशयन किया। जब भरतजी गए वहाँपर, तो सीताजीके ओढ़नीके गोटेके तार देखे और मुग्ध हो गए मानों सीताजीके दर्शन हो गए। चरणाङ्कित भूमिमें, चरण-चिन्होंको देखकर इतना प्रेम उमड़ा कि वह रथसे कूदकर उस जमीनमें, बालूकामें लोटने लगे। क्या बात थी ? यहाँपर प्रियतम श्रीकृष्ण थे और उनके चरण-चिन्ह उस बालुकामें अंकित थे।

चैतन्य महाप्रभु भी भगवान्‌का नाम लेते हैं और हम भी लेते हैं। परन्तु हमारे नामसे तो हम ही पागल नहीं होते। हम नाम लेते समय घड़ी देखते रहते हैं। दूसरेको देखते रहते हैं कि दूसरे क्या कर रहे हैं। जब हम ही नहीं उन्मत्त होते हैं तो किसको उन्मत्त करें। परन्तु चैतन्य महाप्रभुके नाम-प्रेमका ऐसा वर्णन आता है कि वे जब किसी जगह नाम-कीर्तन करते तो यह बहुत पढ़े-लिखे, बुद्धिवादी लोग वहाँ जाना पसन्द नहीं करते। क्योंकि उनके नाम-संकीर्तनका इतना अद्‌भुत प्रभाव था कि उनके नाम-संकीर्तनके समीपसे अगर कोई निकले और नाम-कीर्तन करनेवालेकी नाम-ध्वनि उसके कानमें पड़ जाय या उनको देख ले फिर वह उन्हींके समान उन्मत्त होकर नामकीर्तन करने लगता था। उस वक्त नवद्वीप न्यायका केन्द्र था। मिथिला और नवद्वीप दो ही जगह न्यायकी शिक्षा मिलती थी। न्यायके बड़े केन्द्रमें न्यायके बड़े-बड़े तर्कशील विद्वान रहते थे। दो-चार तर्कशील विद्वानोंकी जब यह दशा हुई तो पण्डितोंने मिलकर यह प्रस्ताव पास किया, निश्चय किया कि जिस मार्गमें चैतन्य-निमाई पण्डित कीर्तन करते हों उसके पाससे नहीं निकलना है अन्यथा अपना पाण्डित्य जाता रहेगा। क्योंकि पण्डित नाचने लगते, उन्मत्तकी भाँति लोक बाह्य नृत्य करने लगते। वह उन्मत्तता दिखानेसे नहीं होती वह तो स्वयं जब जीवन नाच उठता है तब होती है।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(भागवत ११। १४। २४)

प्रेमीभक्त स्वयं तो पवित्र होते ही हैं, त्रिभुवनको भी पवित्र कर देते हैं। उस नृत्य—गान नामक ध्वनिसे। वे भगवान्‌के लिये नाचते हैं; दिखानेके लिये नहीं। उनका जो भगवत्प्रेम होता है, वह उस नाममें आकर अपने आपको प्रकट कर लेता है और जहाँ वह प्रेमयुक्त नाम निकलता है वहाँ प्रेमका विस्तार कर देता है, सारे वायुमण्डलमें। उस वायुमण्डलमें जो आया वह प्रेमी बन गया। यह भगवान्‌का सम्पर्कित कोई भी पदार्थ जब दीख जाता है तो भगवत प्रेमीको उससे बड़ा आनन्द मिलता है। बड़ा सुख मिलता है। अपने प्रेमास्पदकी कहीं फटी जूती भी दिख जाय, कहीं पता लग जाय कि यह जूती उनकी है तो मन चाहता है कि उसको उठाकर हृदयसे लगा लें। सिरपर रख लें क्योंकि उनकी जूती है न! प्रेमियोंकी महात्माओंकी सम्पर्कित वस्तुका आदर होता है। कहते हैं कि उनके पैरकी खड़ाऊँ है। उनकी माला वे फेरते थे। उस जूतीको वह पहनते थे। उस ग्लासमें वे पानी पीते थे। उनके साथ उनका बड़ा आदरका, प्रेमका सम्बन्ध है। वह स्वयं उन चीजोंको पूज्य बना देता है। आनन्दप्रद और आनन्दमय बना देता है।

श्रीकृष्णके चरणोंसे संलग्न कुंकुमका स्पर्श उन तृणोंने प्राप्त किया। तो यह तृण भी बड़े प्रिय लगने लगे, उन पुलिन्द रमणियोंको और उसपर लगा हुआ कुंकुम तो उनके लिये इतनी प्रिय वस्तु हो गया कि बार—बार वे उस कुंकुमको अपनी बाँहोंपर, अपने हृदयोंपर लेपन करने लगीं। इसमें वे इस प्रकारसे आत्मविस्मृत हुईं कि लकड़ियोंका चुनना, कामकाज करना सब उस समय बन्द हो गया। काम छोड़ना नहीं पड़ता है, कर्मका त्याग नहीं करना पड़ता है। कर्मका त्याग हो जाता है कर्मका फल प्राप्त होनेपर। सारे कर्मोंका फल है भगवत्प्रेम। सारे ज्ञानका फल है भगवत्प्रेम। जो ज्ञान भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न नहीं कर सकता वह ज्ञान कोरा ज्ञान है। उस ज्ञानमें रस नहीं है और भगवत्प्रेमकी प्राप्ति किये बिना जीवन रसमय नहीं होता है। जीवनको रसमय बनानेके लिये भगवत्ज्ञानके साथ—साथ परम लक्ष्य बनाना चाहिये

भगवत्प्रेमको। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें सबसे पहली चीज है त्याग। जितना–जितना त्याग बढ़ेगा उतना–उतना भगवच्चरणमें अनुराग बढ़ेगा।

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु रिधि–सिधि विपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग राग–पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।

(विनय–पत्रिका १०३)

सुगति, सुमति, सम्पत्ति, ऋद्धि–सिद्धि, विपुल बड़ाई यह चीजे संसारमें अच्छे–से–अच्छे लोगोंके लिये प्राप्त करने योग्य मानी गयी है। जो इनका त्याग कर दे, तो इतिहासमें उसका नाम रहेगा ही। प्रलोभन ही वह वस्तु है जो बडे–बड़े त्यागियोंके लिये भी सदैव होती है। त्यागी महानुभाव भी नाम–रूपकी कीर्ति चाहते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि इनमेंसे कुछ नहीं चाहिये। **'चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु रिधि–सिधि विपुल बड़ाई'** तो क्या चाहिये ? चाहिये यह कि **'हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ अनुदिन अधिकाई'**। भगवान्‌के चरणारविन्दमें अहैतुक अनुराग—बिना किसी कारणसे होनेवाला सहज प्रेम दिनोंदिन उत्तरोत्तर बढ़ता रहे।

जहाँ स्वसुखवांछाका सर्वथा परित्याग होता है, वहींपर प्रेमका उदय होता है और जहाँपर ठीक–ठीक प्रेमका उदय होता है वहाँ आँखें बदल जाती हैं, मन बदल जाता है। वहाँ सब चीजें उस प्रेमास्पदसे प्रभावित ही नहीं बल्कि मूर्तिमान् प्रेमास्पदके रूपमें दिखायी देती हैं। वहाँ एक रसकी, एक बड़े भारी आनन्दकी अनुभूति होती है जिसे परमानन्दरस कहा है। भगवान् रस हैं परन्तु वह रस अपने रसका वितरण करता है इन प्रेमियोंमें। उस अपने ही वितरित किये हुए रसके लिये स्वयं लालायित होकर, मुग्ध होकर उनसे उस रसको लेकर रसास्वादन करता है। यही प्रेमीका सुख है। यही महारास है। भगवान्‌का स्वसुख–रास क्या है? भगवान्‌का आत्मसुख वितरण ही है। आत्मसुखवितरण और आत्मसुख आस्वादन, यह भगवान् जहाँ जिसमें करते हैं, वही भगवान्‌की प्रेमलीला स्थली है।

व्रज, भगवान्‌की लीलास्थली, उस व्रजमें उन तृणांकुरोंका भी महाभाग कि जिनके अंगोंके साथ भगवान्‌के और भगवद्–भक्तोंके चरणोंका स्पर्श होता है। वह चरण–स्पर्शित जो रज–कण हैं, जो तृणांकुर हैं, गुल्म–लतौषधि हैं; उनका बड़ा भाग्य है। उद्धवने गुल्म–लतौषधि बनना चाहा। इसीलिये कि भगवत् प्रेमियोंके चरणोंकी धूल, लता–गुल्मोषधि पर पड़ती है और उद्धव आदि वैसे हो गये तो उनपर पड़ने लगेगी। श्रीकृष्णके चरण सम्पर्कित,

सुगन्धयुक्त, सुषमायुक्त, शोभायुक्त, श्रीयुक्त और चिन्मयतापूर्ण कुंकुमको देखकर श्रीपुलिन्द-रमणियोंने इनको हृदयोंपर लगाया और अनुभव किया कि इनके रूपमें श्रीकृष्ण ही हमारे साथ मिल रहे हैं। उन्हींका हम स्पर्श प्राप्त कर रही हैं। उन्हींको प्राप्त करके धन्य हो रही हैं। अब वह कुंकुम आया कहाँसे और कैसा है ? इसपर श्रीगोपांगनाओंकी जो दृष्टि है उसका वर्णन श्री शुकदेवजी आगे करते हैं।

भगवान्‌ने गोपांगनाओंके हृदयपर वक्षःस्थलपर अपना चरण-स्पर्श करा दिया। यह महौषधि है---प्रेमके साम्राज्यमें। प्रेमकी व्याधिमें यह महौषधि है। भगवान् श्यामसुन्दर परमप्रेष्ठका पदकमल हृदयसे छू जाय---यह संजीवनी दवा है। इसका स्पर्श होते ही उनको चेतना आ गयी। उनको चेतना आ गयी तो श्रीकृष्णका काम हो गया। वह लौट गए। उनके वक्षःस्थलपर जब श्रीकृष्णका चरण-स्पर्श हुआ तो वक्षःस्थलपर केसर लगी हुई थी, कुंकुम लगी हुई थी। वह केसर दौड़ी आयी, पसीना आ रहा था। वह अंगराग इस प्रकारका जो सूखके कड़ा नहीं हो जाता। हम लोग चन्दन लगाते हैं वह जब सूख जाता है तो कड़ी पपड़ी-सी बन जाती है। वह इस प्रकारका दिव्य अंगराग जो पानीकी तरह बहे नहीं और जिसमें द्रवता बनी रहे। जिसमें निरन्तर शीतलता और सुगन्धि और वर्ण-चमत्कार दिखता रहे। इस प्रकारका वह केसर। उन गोपांगनाओंके---जो मूर्छित होकर गिरी थीं उनके हृदयोंपर जो केसर कुंकुम लगे थे, भगवान्‌का चरण-स्पर्श होनेसे वह केसर भगवान्‌के चरणोंमें लग गयी। भगवान् तो लौट गये। अब जो भगवान् गये वहाँसे पैदल---वह कोई जूती थोड़े पहने आए थे, रथमें थोड़े आये थे, द्वारिका जाते, मथुरा जाते तो रथ होता। यहाँ तो भूमिको, भूमिके तृणोंको सबको रस देना है। वह जब चले तो श्रीगोपांगनाओंके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसर उनके चरणोंमें लग गयी तो स्वाभाविक प्रेमका संक्रमण हुआ। (आजकलका विज्ञान भी इसको मानता है। संक्रमण होता है---भावोंका, मनके विचारोंका, व्याधिका, निरोगताका) तो श्रीगोपांगनाओंके प्रेम भरे वक्षःस्थलपर प्रेमपूर्ण केसर लगी। वह केसर भगवान्‌के चरणोंसे स्पर्शित होकर और भी प्रेमपूर्ण बन गयी अर्थात् गोपियोंके प्रेमकी पूर्णता वक्षःस्थलपर भगवान्‌के चरणोंके स्पर्शसे होती है। जो प्रेमपूर्ण होते हुए भी श्रीकृष्णके चरण प्राप्त करनेके लिये आतुर था। हृदयोंपर कुंकुमके रूपमें विकसित वह प्रेम भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पाकर और भी परिपूर्ण हो गया। वह जो कुंकुम है प्रेमभरा वह भगवान्‌के चरणोंके द्वारा लगी

घास पर—जिस घासपर वह चल रहे थे; उसपर केसर लगी तो घास बहुत दूरतक रंग गयी। इस प्रकार जो सारी-की-सारी प्रेमकी वस्तु थी उस केसरमें, वह घासमें संक्रमित होकर आ गई।

प्राणीमात्रके अन्दर प्रेम है। भगवत्प्रेम, भगवान्‌की ओर आकर्षण सबके मनमें है क्योंकि वही आत्माके आत्मा हैं। परन्तु हम भूले हुए हैं, जगना चाहिये। भगवान्‌ने वंशी निनादसे भीलनियोंके मनमें प्रेम तो जगा दिया था इसलिये वे दौड़ी थीं पर उस केसरका स्पर्श पाकर तो वे सर्वथा ही भावमय हो गयीं। फिर उस केसरको घासके अंकुरोंमेंसे, तृणोंमेंसे निकाल-निकालकर, अपने सारे वदनपर, अपने वक्षःस्थलपर, अपने मस्तकपर लेप करने लगीं। इस प्रकार पुलिन्द-रमणियोंकी बातें कहती हुई, श्रीकृष्णके चरणोंसे संलग्न कुंकुमका वर्णन करती हुई, व्रजरमणियाँ प्रेमेच्छा इत्यादिका वर्णन करती हुई, अपने आत्मभावको प्रकट होते देखकर, फिर उसे दबानेके लिये कहने लगीं कि देखो ! यह कितनी भाग्यशालिनी है, हम तो दुर्भाग्यशाली हैं। हमारे अन्दर तो कोई भी अच्छी चीज नहीं। इतना कहते-कहते ही उन्होंने देखा कि अब तो भावगोपन नहीं हो पा रहा है तो भगवान्‌की योगमायाने काम किया। इनको महाभाग्यवान् गोवर्धनके दर्शन होने लगे।

श्रीगोवर्धनकी प्रेमाभक्ति

शुकदेवजी कहते हैं—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः।।

(भागवत १०। २१। १८)

गोपियाँ पुलिन्द रमणियोंका वर्णन करते-करते कहने लगीं—'**श्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितम्**' (भागवत १०। २१। १७) इन शब्दादिसे जब उनके भाव प्रकट होने लगे तो वे दूसरे भावको लानेके लिये व्यस्त हो गयीं और बोलीं कि,—सखी, देखो ! पुलिन्दरमणियाँ तो भावके आवेशमें अपने-आपको भूलकर वंशी-ध्वनिकी ओर दौड़ीं पर हम लोग अभागिनी हैं जो धैर्य, लज्जा, कुल-शील आदिमें आबद्ध हैं। लेकिन हमलोगोंको छोड़कर वृन्दावनका तो प्रत्येक पदार्थ ही सौभाग्यशाली है। वृन्दावनका तृण, लता, गुल्म, वृक्ष, पर्वत ये सभी हमसे करोड़ों-करोड़ों गुना अधिक भाग्यशाली हैं। हम तो

जंगम—चलनेवाली होकर भी श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श नहीं पा रही है और ये वनोंके तृण—घास उनके चरणोंका स्पर्श पाकर धन्य हो रहे हैं। उन तृण—घासका अलग—अलग वर्णन करते—करते श्रीगोवर्धनजी—जो भगवान्‌के रूप ही हैं, उनके सामने आ गये। तो फिर बोलीं—'**हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो**'। सखी! हम सभी लोग तो अबला हैं क्योंकि हमारेमें कोई बल है ही नहीं। हम लोग तो लज्जा, धैर्य आदि अनेक प्रकारके बन्धनोंमें बँधी हैं इसलिये श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जा नहीं सकतीं। परन्तु देखो न! गोवर्धन पर्वतको देखो, वह स्थावर है, परन्तु उसमें प्रेमका बल कितना बढ़ा हुआ है कि प्रतिदिन श्रीकृष्णका स्पर्श व दर्शन प्राप्त करता है, रोज—रोज न जाने कितनी देरतक। श्रीकृष्ण क्षणभरके लिये गोवर्धनपर जाकर चले आये ऐसा नहीं है। दिनभर गाय चराते हैं वहीं पर। प्रतिदिन और दीर्घकालतक वह श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श पाकर कृतार्थ होता है। इसलिये हम यदि गोवर्धन पर्वतकी कोई शिला हो जातीं तो श्रीकृष्णके चरण—स्पर्शसे वंचित तो नहीं रहतीं।

गोवर्धन पर्वतके सौभाग्यका वर्णन करते हुए ही उन्होंने गोवर्धनका नाम लिया 'हरिदासवर्य'। अब यह गोवर्धन पहाड़के अधिष्ठात्री देवताका नाम 'हरि' होगा या उसके सेव्य, पूज्यका नाम। गोपरमणियाँ तो हरिका कोई और अर्थ जानती ही नहीं। पर वे तो 'हरि' कहा करती हैं क्योंकि ये उनके चित्त—धनका निरन्तर हरण करते रहते हैं। ये बेचारी कहींसे बटोरकर इकट्ठा करती हैं, चित्त लगाती हैं संसारमें, पर लगता नहीं।

हमलोगोंका चित्त तो भगवान्‌में लगानेसे नहीं लगता है और उनका चित्त संसारमें नहीं लगता। वे चित्तको कभी भगवान्‌से हटाकर संसारमें लगाना चाहती हैं तो ये उसका हरण कर लेते हैं। इसलिये ये उनके मनको हरण करनेवाले हैं। इसका उन्हें ज्ञान है। इसलिये ये उनको 'हरि—हरि' कहा करती हैं। ये हमारे चित्तको हरण करनेवाले हरि हैं। यह पहाड़ जो है वह हरिका दास है। यह हमारे श्यामसुन्दरका, हमारे मन—हरण करनेवाले मधुर—मनोहर श्यामसुन्दरका दास है। दास ही नहीं दासमणि है।

भोग—प्रपंचमें प्रत्येक बड़े—से—बड़ा या ऊँचे—से—ऊँचा प्राणी भी हरिदास नहीं होता है। भोगदास होता है। चाहे वह भोग कितना ही ऊँचा हो, स्वर्गलोकका हो या देवलोकका हो। यह होता है भोग—राज्यमें। भगवान्‌के मन्दिरमें भी जाकर, भगवान्‌को हाथ जोड़ता हुआ, प्रणाम करता हुआ,

साष्टांग करता हुआ भी अपने भोगके दासत्वकी घोषणा करता है कि महाराज ! हमें मुक्ति दे दो। भगवान्‌के पास गए, भगवान्‌के आगे हाथ जोड़े, दण्डवत किया और माँगने लगे भोग। जब भोगका दासत्व है तो भगवान्‌को दण्डवत करते हुए भी नाम-जप करते हुए भी, सेवा करते समय भी यह बना रहता है। सेवा करता है भगवान्‌की पर भगवान्‌का दास बनकर नहीं बल्कि भोगोंका दास बना हुआ करता है। इस प्रकारके लोग तो हरिदास हैं ही नहीं। लेकिन जो दास सेवा भी करते हैं और कुछ माँगते भी नहीं। जरा सेवामें जी उबता है, आनन्द नहीं आता, शायद क्लेश मालूम पड़ता है कि बहुत हो गयी। सेवा करनी बहुत अच्छी। सेवामें निष्ठा है, सेवाको अच्छा मानता भी है और कुछ माँगता नहीं और सेवा करता है। परन्तु सेवामें कुछ क्लेश-बोध होता है। एक तरफ सेवामें आनन्द है इसलिये सेवा करता है पर सेवामें जरा क्लान्ति या थकावट मालूम पड़ती है, कुछ काया-क्लेश मालूम पड़ता है तब यह दासत्व भी ठीक दासत्व नहीं है।

जहाँ भगवान् सेवाका ग्रहण आनन्दसे नहीं करते, इच्छापूर्वक नहीं करते। इसने सेवा की है तो इसे ले लो न कि उनके अपने मनमें उसके द्वारा सेवा लेनेकी बात उठ रही हो। वह सेवा ग्रहण करनेके लिये स्वयं इच्छुक हों। क्या करें ! इस बेचारेको दुःख होगा इसीलिये ग्रहण कर लें। उनका स्वभाव दयालु है। वह कहते हैं कि जो दास काया-क्लेशकी स्मृति रखते हुए सेवा करता है अथवा जिस दासकी सेवा बिना इच्छाके भगवान् ग्रहण करते हैं, उन दासोंको भी श्रेष्ठ दास नहीं कहा जा सकता है। सेवा तो करते हैं परन्तु दूसरेका—किसीके सेवक न होनेपर भी श्रमके सेवक बने हुए हैं कि श्रम होता है। श्रमण होकर परमसुख होना चाहिये, श्रमकी विस्मृति होनी चाहिये और स्वामी भी जिज्ञासुओंको छोड़कर आर्त-अर्थार्थीका जो आजकल अर्थ प्रचलित है उस रूपमें लें तो भगवान् सेवाको मान लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। पर वे अपने स्वभाववश ग्रहण करते हैं। चाहकर नहीं करते हैं। जहाँपर स्वसुखवांछारहित अनन्य प्रेम होता है, उस प्रेमीकी सन्निधि प्राप्त करनेके लिये, उसका दिया हुआ प्रसाद ग्रहण करनेके लिये, उसकी वस्तुको लेनेके लिये, उससे मिलनेके लिये भगवान् स्वयं आतुर होते हैं, लालायित होते हैं। उसकी सेवाको जब ग्रहण करते हैं तो वह सबसे ऊँची अवस्था होती है। भगवान्‌का दास होनेमें दूसरेके दास तो होंगे नहीं और अपने अन्दर इतनी पवित्रता लायें कि उसकी वस्तुके लिये भगवान्‌के

मनमें लालच पैदा हो जाय। वहाँपर ही भगवान्‌का दासत्व ठीक-ठीक सम्पन्न होता है।

भागवतमें यूं तो ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, व्यास, शुकदेव आदि सभी भगवान्‌के दास हैं। जितने भक्त चूड़ामणि हैं, इनमें परम त्याग है परन्तु तीन व्यक्तियोंके लिये ही भागवतमें 'हरिदास' शब्द आया है। उनमें तीन कौन हैं ? प्रथम 'कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्' (भागवत १०। ४७। ६)। उद्धवके लिये आया है कि हरिदास उद्धव व्रजमें आकर श्रीकृष्णकी लीला कथाका वर्णन करते हुए व्रजवासियोंको सुख देते हैं। वे महीनोंतक वहाँ रहे। दूसरा 'हरिदासस्य राजर्षे राजसूय महोदयम्' (भागवत १०। ७ । २७) हरिदास राजर्षि युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें महोत्सवका दर्शन करनेपर सभीको सुख मिला। दूसरे हरिदास महाराज युधिष्ठिर। तीसरे श्रीगोवर्धन, इन्हें हरिदासके साथ हरिदासवर्य कहा है। तो भागवतमें उद्धव, युधिष्ठिर और गोवर्धन इन तीनके नामके साथ हरिदास विशेषण लगा है। ध्रुव, प्रह्लाद आदि भगवान्‌के बहुत बड़े भक्त, महान् प्रेमीपर हरिदास शब्द विशेषणके रूपमें उनके लिये प्रयुक्त नहीं आ। इन तीनोंमें जो गोवर्धन है वह सर्वश्रेष्ठ है इसीलिये इसको 'हरिदासव' कहा है।

'हरिदासवर्य' तो सम्भव है यह गोपियोंका अपना वक्तव्य हो। अपनी भावनाके अनुसार उन्होंने गोवर्धनको प्रत्यक्ष सेवा करते हुए देखा। इसलिये उनके मनमें आया कि हरिदासोंमें श्रेष्ठ तो यह गोवर्धन ही है। श्रीकृष्ण नाना प्रकारके भावोंद्वारा व्रजवासी मात्रके लिये मन हरण करनेवाले 'हरि' हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंगका भी वे मन हरण करते हैं और व्रजमण्डलमें उनके दासोंकी कमी नहीं है। सारे दास-ही-दास हैं। परन्तु गोपियाँ समझती हैं कि गोवर्धनके समान अपने सारे शरीरको लीला-क्षेत्र बनानेवाला कोई नहीं है। श्रीकृष्ण सुबहसे चलकर आते हैं और शामको जाते हैं तबतक गोवर्धन लीला-क्षेत्र रहता है, लीला-भूमि रहती है। इतनी बड़ी सेवाका अवसर जिसे प्राप्त है, और प्रतिदिन नित नये-नये उत्साहसे, अपना सर्वस्व देकर जो श्रीकृष्णकी सेवा करता है, गोपियोंके मन्तव्यके अनुसार वही 'हरिदासवर्य' है। राम और कृष्ण इन दोनोंके चरणोंका स्पर्श पाकर गोवर्धन जिस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त होता है और गोवर्धन पर्वतपर विचरण करके राम और कृष्ण जिस प्रकार आनन्दित होते हैं इससे मालूम होता है कि यही 'हरिदासवर्य' है।

पहले बात हुई है कि जिसको काया–क्लेश बोध होता है उसका दासत्व भी ठीक नहीं है और जिसकी सेवा अगत्या ग्रहण करते हैं भगवान् वह भी ठीक नहीं। यहाँ तो अगत्या नहीं ग्रहण करते। यहाँ तो रोज–रोज चलकर आते हैं, चावसे आते हैं और दिनभर रहते हैं। यह गोवर्धन कभी नहीं कहता कि अब चले जाओ। अब हमारा सामान चुक गया। हम थक गये हैं। बहुत देर हो गयी। यह संकेत भी नहीं करता और कल्पना भी नहीं करता है। गोवर्धन परम आनन्दमें मानो अपने आपको भूल जाता है। प्रेममें पुलकांगता होती है, रोमांच होता है, स्वेद होता है, अश्रुपात होता है। गोवर्धन तो पहाड़ है। इसके आँसू, इसका रोमांच, इसका स्वेद इसीके अनुसार होगा। जैसा शरीर उसीके अनुसार यह सब चीजें। यह रोज नये, प्रतिपल नये–नये तृण उगाता रहता है। यह उसका रोमांच है। भगवान्के साथ आये हुए गाय–बछड़े सूखी घास खाएँ, बासी घास खाएँ या घंटे भर पहलेकी घास खाएँ ऐसा नहीं है। यह तो जैसे किसीके शरीरमें रोमांच होता है, तन पुलकित हो उठता है उसी प्रकारसे गोवर्धन भगवान्के चरण स्पर्शको पाते ही पुलकितांग हो जाता है। इसका रोम–रोम नये–नये तृणांकुरोंके रूपमें खिल उठता है। यह उसका पुलक है और आर्द्रताके बहाने यह स्वेद बहाता है। कहींपर भी ऐसा गीलापन नहीं कि जिसमें कीचड़ हो जाय, पैर फिसल जाय। आर्द्र रहे पर बहता पानी भी नहीं और कीचड़ भी नहीं। इस प्रकार यह गोवर्धन अपने शिलाखण्डोंको निरन्तर जबतक श्यामसुन्दर रहते हैं; आर्द्र रखता है मानों प्रेमके कारण इसके पवित्र शरीरसे स्वेद बहता है। फिर अश्रुपात होना चाहिये। जैसी आँखें वैसा ही अश्रुपात होगा न ! तो जगह–जगह बड़े मीठे जलके झरने बहाता है—निर्झर। झरनोंके रूपमें बड़ा स्वादिष्ट, बड़ा सुगन्धित, बड़ा शीतल जल देता है। राम–श्यामका चरण–स्पर्श पाते ही गोवर्धन पर्वत रोमांचित हो जाता है। इसको स्वेद बहने लगता है, अश्रुपात होने लगता है। नये–नये अंकुरोद्गमके रूपमें हुआ रोमांच, आर्द्रताके रूपमें हुआ स्वेद, और निर्झरोंके रूपमें हुआ अश्रुपात।

जब राम कृष्ण इस प्रकार प्रेम परवश हुए लेकिन सेवामें सावधान पुलकितांग अश्रु बहाते हुए, आर्द्र पर्वतपर विचरण करते हैं तो उनको बड़ा सुख मिलता है। उनके कोमल चरणारविन्दमें कहीं शिलाका आघात न लग जाय इसलिये तमाम शिलाएँ द्रवित हो जाती हैं। एक विचित्र बात और कि शीतरात्रिमें वह पुष्ट हो जाती हैं तथा गर्म हो जाती है और गरमीके

दिनोंमें वे शीतल हो जाती हैं जिससे श्रीकृष्णके चरणोंको सुख मिले। गर्मीमें आयें तो शीतल शिलापर पैर रहे और ठण्डकमें आयें तो गरम शिलापर। इस प्रकार श्रीकृष्णके चरणोंको सुख देनेके लिये पुलक, स्वेदादिके द्वारा गोवर्धन सेवा करते हैं। इस सुखकर चरणको गोवर्धनके बदनपर रखें, जिसने लीलाके लिये अपने देहको बिछा दिया कि और कहीं लीला नहीं करनी है। आप हमारे शरीरपर लीला करो। आघात लगेगा, बोझ लगेगा, इतनी गायें और इतने गोवत्स यह सब सहना पड़ेगा। तो गोवर्धन बोला हमारा शरीर इसीलिये है। गोवर्धनका शरीर कैसा है ? वह चरणसुखकर है, प्रिय है, मधुर है, साथियोंको सुख देनेवाला है। इस प्रकार परमानन्दसे भगवान् विचरण करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, विहार करते हैं, खेलते हैं, दौड़ते हैं, सोते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि गोवर्धनकी सेवा अगत्या नहीं है। इसे श्रीकृष्ण चावसे लेते हैं, मनसे लेते हैं, अतएव गोवर्धन 'हरिदासवर्य' है। हरिदासोंमें उत्तम है, श्रेष्ठ है। जो संसारके दासत्वसे मुक्त होकर भगवत् सेवामें लगता है, केवल वही हरिदास है परन्तु उस हरिदासतामें भी कहीं क्लेशका बोध है ? तप और प्रेममें यही अन्तर है। तपमें क्लेशका बोध है परन्तु सहनशीलता है। प्रेममें क्लेश नहीं है और क्लेशके स्थानपर आनन्द आ जाता है। जहाँ मानसिक क्लेश नहीं है वहाँ उत्तरोत्तर सेवाकी रुचि बढ़ती है। सेवाका उपहार क्या है ? अधिक–से–अधिक सेवाका अवसर मिले और शक्ति मिले। सेवाकी सामग्री अधिक–से–अधिक जुटती रहे। यही उस सेवकका एकमात्र जीवनका उद्देश्य है।

अब यहाँ **'रामकृष्ण चरण–स्पर्श प्रमोदः'** यह वाक्य है। गोपियाँ कहना चाहती हैं श्रीकृष्णकी बात, परन्तु वे सब जगह आत्मगोपन करनेके लिये इस प्रकारके वाक्योंका प्रयोग करती हैं जो अर्थान्तर भी नहीं करता और मिथ्या भी नहीं है। परन्तु इससे उनके मनका भाव सुरक्षित नहीं रहता। गोवर्धनके गुण–वर्णनके प्रसंगमें कहा––गोवर्धन पर्वत राम और कृष्णके चरण–स्पर्शसे अत्यन्त प्रमुदित होता है। उनकी बड़ी ऊँची कृष्ण–निष्ठा थी। उन्होंने कृष्णानुरागको छिपानेके लिये **'राम कृष्ण चरण स्पर्श प्रमोदः'** कहा। यह ठीक, परन्तु मतलब इसका कुछ और है। रामका अर्थ है परम रमणीय। राम श्रीकृष्णके चरणोंका विशेषण है। कृष्णके जो राम–चरण हैं। श्रीकृष्णके जो रमणीय चरण हैं, उनका स्पर्श करनेकी मनमें निष्ठा होनी चाहिये। यहाँ कुछ गोपांगनाएँ दाऊजीसे प्रेम–निष्ठा करती थीं पर अधिकांश

गोपांगनाओंकी निष्ठा श्रीकृष्णमें ही थी। तो उनकी निष्ठामें कहीं कोई शब्द बाधा न डाल दे और देखनेवाले लोग, सुननेवाले लोग उनके हृदयकी बात न जानें—यहाँ अवहित्थाभाव है छिपानेका, जान भी न सके और वर्णन भी हो जाय। इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग हुआ। तो 'रामकृष्ण चरण स्पर्श प्रमोदः' यह राम शब्द जो है वह बलदाऊजीका बोधक नहीं, यह रमणीयताका बोधक है। इसमें दो चीज; एक गोपियोंका प्रकारान्तरसे मनोभावगोपन—अवहित्था और दूसरे गोवर्धनकी भाग्यशीलताका संकेत और अपना दैन्य। यह दोनों ही दैन्य संचारीभाव है। तो रामकृष्णके चरणोंका स्पर्श पानेसे गोवर्धन प्रमुदित होता है। एक तो इसमें गोवर्धनकी भाग्यशीलता और अपना दैन्य प्रकट है। गोवर्धनको सुख होता है, उसको स्पर्श प्राप्त होता है। दूसरे रामका अर्थ रमणीय होनेसे उनका अवहित्थाभाव—आत्मगोपन सिद्ध हो जाता है।

ये कहती हैं कि पहाड़ बड़ा भाग्यशाली है। हम लोग तो गोवर्धनकी शिला भी नहीं बन पायीं और हम लोगोंका हृदय तो मालूम होता है कि वज्रसे भी कठोर है। पत्थरकी बनी हुई शिलाएँ द्रवित हो गयीं पर हमारा हृदय इतना कठोर कि द्रवित नहीं हुआ। हमारा हृदय तो फटा नहीं। शिलाएँ तो जल बन गयीं और हमारा हृदय इतना कठोर कि जरा-सा भी विगलित नहीं हुआ। अतः हमलोग प्रेमहीना है। विधाताने हमारा सृजन ही किया है प्रेमशून्य बनाकर। श्रीकृष्णके चरणोंके स्पर्शका सुअवसर हमें इसीलिये नहीं मिलता और इसीलिये हमलोगोंका हृदय कठोर बना हुआ है। इतना कठोर कि वज्र-हृदय विगलित नहीं होता। वे फिर कहती हैं कि—यह गोवर्धन पहाड़ रोमांच, स्वेद, अश्रुको प्राकट्य करके ही नहीं रह जाता। जब श्रीकृष्ण बलदेव और गोपबालकोंको साथ लेकर गायोंके रखवाले बनकर गोवर्धनपर चढ़ते हैं, उस समय गोवर्धन नाना प्रकारकी पूजन सामग्री लेकर उनका पूजन भी करता है, सत्कार भी करता है।

यह केवल देखकर शब्दोंसे ही आनन्दित कर दे ऐसा नहीं है। लोग कहते हैं कि हम प्रसन्न हैं, आपकी कृपा है, आप आ गये और हम धन्य हुए—यह केवल मौखिक, शाब्दिक या मानसिक ही विचार करके, सत्कार करके नहीं रह जाता। असलमें शरीर, मन, वाणी, धन, प्राण, जीवन यह सबके सब जब भगवान्‌की सेवामें नियोजित हो जाते हैं—सबका नियोग हो जाता है तभी कोई वास्तविक हरिदास होता है। किसी चीजको हमने

रख लिया—स्वामीको अर्पित नहीं किया तो उसके हम मालिक रह गये न! उसके हम दास रह गये। उसको स्वामी बनाकर रख लिया। जो देहको नहीं देता आलस्यके मारे, धनको नहीं देता कृपणताके मारे वे आलस्य अथवा कृपणतामें शरीरको और सम्पत्तिको श्रीकृष्णकी सेवामें अर्पण नहीं करके वचन और स्मरणके द्वारा ही अपनी सेवाका रूप बनाये रखना चाहते हैं, वे भजनवान् हैं, भजनहीन तो नहीं हैं। परन्तु वे भजनशील होते हुए भी श्रेष्ठ भक्त नहीं हैं। अपने लिये कोई भी सम्बल न रखकर, अपनी सेवाको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्णकी सेवाको ही जीवनका प्रधान, एकमात्र, अनन्य लक्ष्य बनाकर जो अपने शरीरसे, मनसे, वाणीसे, धनसे, प्राणोंसे सर्वस्व देकर श्रीकृष्णकी सेवा कर सकते हैं वे ही श्रीकृष्णके सर्वोत्तम सेवक हैं। वास्तवमें श्रीकृष्णकी सेवाके अधिकारी वही हैं। जो जरा—सा भी दूसरी चीजमें आसक्ति, प्रेम, दासत्व रखता है, वह वास्तविक रूपसे प्रेमास्पद भगवान्‌का प्रेमी नहीं उनकी सेवाका अधिकारी नहीं।

गोवर्धन पर्वतका व्यवहार देखकर गोपियोंको स्पष्ट दिखाई दिया कि श्रीकृष्णकी सेवाके लिये ही उसका देह और वस्तुएँ—सबकी सब लगी हुई हैं। श्रीकृष्ण जब गो चरानेके लिये बालकोंके साथ गोवर्धन पर्वतपर पहुँचते हैं तो वह केवल आत्म—सुधि भूलकर नाचता ही नहीं है, स्वच्छ शीतल जल भी देता है। सभी आये हैं तो निकट पानीका झरना रख देता है, छायादार स्थानपर जहाँ जलके द्वारा ये चरण धो लें, पानी पी लें; परन्तु केवल श्रीकृष्णकी सेवामें साथियोंको भूल गए तब ? बहुत बार ऐसा होता है कि जो आते हैं उनका सत्कार तो होता है पर उनके साथियोंको नगण्य समझकर उनकी परवाह ही नहीं की जाती है। उनके साथी भी तो बहुत सम्मान्य हैं, सेव्य हैं। यह केवल श्रीकृष्ण और बलरामकी ही सेवा नहीं करता अपितु बड़े—बड़े सुकोमल, सुमधुर, नव—नव तृणोंके द्वारा साथ आये हुए पशुओंकी सेवा करना भी नहीं भूलता। जहाँ भगवान्‌के लिये जलका प्रबन्ध करता है उसीके साथ—साथ गायोंके लिये, गोवत्सोंके लिये यह सुन्दर—सुन्दर तृणकी भी व्यवस्था करता है। फिर इन वृक्षोंकी नाना प्रकारकी ऐसे—ऐसे निकुञ्ज बनाकर रखता है जहाँ गायें चरनेके बाद बैठकर जुगाली करती हैं। ऐसी बहुत—सी विधाएँ बनाकर रखता है जहाँपर रत्न—पीठ हैं, रत्न—पर्यंक है, मणि—दर्पण है। सब उसके अपने समान—स्वाभाविक—प्राकृतिक बनाए हुए। उनके द्वारा श्रीकृष्ण, बलराम और गोप बालकोंके विश्रामकी

व्यवस्था है। फिर नाना प्रकारके कन्द—मूल—फलादि उनके भोजनके लिये, उनकी क्षुधाकी निवृत्तिके लिये, यह बड़े प्रेमके साथ, आदरके साथ और सामने न आकर रख देता है गोपनीय तरीकेसे। वहाँ श्रीकृष्ण अपने—आप पहुँच जाते हैं जहाँ ये तमाम फल लगे हैं। मानस—गंगा आदि गोवर्धनसे निकली हैं जिनका जल मधुर, सुशीतल है।

इस प्रकार गोवर्धन फल, जल, नैवेद्य, आसन, आहार, छाया इत्यादिके द्वारा सर्वदा श्रीकृष्ण और उनके साथियोंकी सेवामें संलग्न है। पशु वहाँ जाते हैं तो भी रूखा—सूखा घास खा लेते हैं सो नहीं। पशुओंके लिये मुखरोचक, स्वादिष्ट और दुग्धवर्धक, शक्तिवर्धक घासोंको यह पैदा करता है। जो उनके लिये रुचिकर हैं। गोपबालकोंके लिये जगह—जगह स्वाभाविक प्राकृतिक आसन हैं। प्राकृतिक वितान लगे हैं, प्राकृतिक व्यंजन है, प्राकृतिक दर्पण—वे शिलाएँ चमकती हैं उनमें मुँह देख लेते हैं। प्राकृतिक मणियोंकी खानें हैं जो प्रकाश कर देती हैं। वहाँपर प्राकृतिक पलंग बने हुए उन मणियोंके स्वाभाविक—यह सब उनके आरामकी व्यवस्था है और यह रोज—रोज होती है। भगवान् वहाँ रोज आरोहण करते हैं और खेलते हैं। इन सब चीजोंको देखकर गोपियोंने कहा यह गोवर्धन 'हरिदासवर्य' हैं। हमलोग तो 'हरिदासवर्य' नहीं हैं।

इन्हें हरिदासवर्य गोपियोंने तो कहा ही है और श्रीराधाके श्रीमुखसे भी निकला है। यहाँ राधा भी थीं, गोपियाँ तो थीं हीं। राधिकाके मुखचन्द्रके द्वारा भी गोवर्धनके लिये 'हरिदासवर्य' शब्द आया है। गोपियोंने तो कहा ही है कि गोवर्धन बड़ा प्रेयसी है। यह दिनभर श्यामसुन्दरकी सेवामें लगा रहता है। हमारी सेवा कोई करे और हमारे प्रियतमकी सेवा न करे, वह प्रिय नहीं होता है। हमारी सेवा न करे और हमारे प्रियतमकी सेवाके द्वारा ही हमें सुख पहुँचाये, वह प्रेमके राज्यमें बड़ा प्रिय होता है। हमें जो प्यारा है, हमारा जो पूज्य है, जो हमारा सेव्य है, उसको सुख पहुँचानेके लिये उनकी सेवा करनी चाहिये। गोवर्धन इनकी दृष्टिमें हरिदासवर्य इसलिये भी हो गया। यह दिन—रात उनके प्रियतमकी सेवाके लिये अपने सारे सामान, सामग्रीके साथ टकटकी लगाये रहता है और नानाप्रकारसे सेवा करता है। इसलिये श्रीकृष्णने गोवर्धनको अपना रूप दिया। इन्द्रके यज्ञको बन्द करवाकर गोवर्धन—यज्ञ करवाया। स्वयं गोवर्धन रूप बन गए। गोवर्धनकी सेवा, त्याग, समर्पण, देह—सम्पत्ति, धन—सम्पत्ति, शक्ति—सम्पत्ति, प्राण—सम्पत्ति

जो कुछ भी था उसके पास, वह सारा-का-सारा उसने लगा दिया श्रीकृष्णकी सेवामें। इसलिये श्रीगोपांगनाओंको लगा कि हम लोग तो कोई चीज हैं ही नहीं। हमलोगोंके समान कोई अभागिनी ही नहीं जो किसी प्रकार भी सेवा करनेकी योग्यता नहीं रखतीं। घरोंमें बन्द रहती हैं।

जितने भी सेवक हैं वे सीमितकालके लिये सेवा करते हैं। सीमित वस्तुओंको लेकर सेवा करते हैं। अपने लिये रख भी लेते हैं। परन्तु यह गोवर्धन बेचारा सेवाके लिये ही जीता है। सेवाके लिये यह वस्तुओंका संग्रह करता है, अर्जन करता है। यह भोगके लिये संग्रह नहीं करता है। भोगके लिये, संग्रहके लिये जो अर्जन होता है वह भोगियोंकी चीज है और उस संग्रहमें जो बुराईको आश्रय देते हैं वह पामर होते हैं। लेकिन जिनका संग्रह और अर्जन केवल भगवान्‌की सेवाके लिये होता है, वे भगवत्प्रेमी हैं। उनका दूसरा कोई उद्देश्य ही नहीं है और सेवामें लगानेसे उनको संतुष्टि होती है, उनको परमानन्द होता है कि उन्हींकी चीज, उन्हींकी शक्तिसे, उन्हींकी सेवामें लगी। अपना अपनापन देनेमें और वस्तुमें दोनोंमें नहीं है।

इस प्रकार यह गोवर्धन पर्वत भूख रहकर सारी वस्तुओंका अर्जन और संग्रह करते हुए निरन्तर अपने आपको भूलकर सेवामें सावधान रहता है। विस्मृति अपनी है, अपने सुखकी है, अपने सेवाकी है, अपने आरामकी है और अपने आपकी विस्मृति है। परन्तु सेवामें सावधानी है। यह नहीं कि हम ध्यान लगाकर बैठ गये और भगवान् धूपमें बैठें कि हम तो ध्यानस्थ हैं। ध्यानस्थ होना कम अच्छा नहीं है। बड़ा अच्छा है। परन्तु जहाँ सेवाकी आवश्यकता है वहाँ सेवाका ध्यान रखते हुए ही। **'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** (गीता ८। ७) सर्वकालमें मेरा स्मरण करो। क्षणभरके लिये भी स्मृतिमें वियोग न हो **'सर्वेषु कालेषु'** पर उनकी आज्ञा वहाँ, हैं सेवा वहाँ है।

यह गोवर्धन महाराज जो हैं यह ऐसे बड़े सेवक भगवान्‌के हैं कि अपने-आपको भूले हुए हैं लेकिन भगवान्‌की सेवामें सतत् सावधान और जहाँपर जो चीज चाहिये भगवान्‌को वह चीज पहलेसे तैयार। जब ऊपर चढ़ते हैं तो गोवर्धनने पहलेसे ही दोनों तरफ वृक्षोंकी सीढ़ियाँ लगा दी थीं, छायादार और सुगन्धित। जिससे उनकी महक लेते हुए, प्रसन्न होते हुए, मुदित होते हुए, छायामें रहें और चढ़ाई भी ऐसी कर दी मानो समतल भूमि हो; समतल भी, कोमल भी। कठिन नहीं क्योंकि शिलाएँ द्रवित हो गयीं। इस प्रकार सब तरहकी सेवाके लिये पहलेसे तैयार, प्रस्तुत; गोवर्धनकी

इस पूजा–विधिको देखकरके बोलीं—'श्रीकृष्णदासवर्योऽयम् श्रीगोवर्धनभूधरः' गोवर्धन पहाड़ श्रीकृष्णके दासोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं क्योंकि इसका जीवन सेवामय ही है। इसीलिये यह जीवित है नहीं तो यह नहीं रहता। उसकी पूजा–विधिको, उसके भावोंको, उसके त्यागको, उसके समर्पणको, उसकी आत्मविस्मृति और सेवा–सावधानताको देखकर कृष्णानुरागिणी व्रजरमणियोंके मनमें बड़ी आदरबुद्धि उसके प्रति पैदा हुई और वे अपने–आपको धिक्कारने लगीं कि हम सेवा कैसे करें ? हमारा तो जीवन–व्यर्थ ही गया, विफल हो गया। सेवाका सारा श्रेय इस गोवर्धनको प्राप्त है। *

उपसंहार

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्।।

(भागवत १०। २१। १६)

गोपियोंने कहा—अरी सखी ! इन साँवरे–गोरे किशोरोंकी तो गति ही निराली है। जब वे सिरपर नोवना (दुहते समय गायके पैर बाँधनेकी रस्सी) लपेटकर और कंधोंपर फंदा (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) रखकर गायोंको एक वनसे दूसरे वनमें हाँककर ले जाते हैं, साथमें ग्वालबाल भी हैं और मधुर–मधुर संगीत गाते हुए बाँसुरीकी तान छेड़ते हैं, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, अन्य शरीरधारियोंमें भी चलनेवाले चेतन पशु–पक्षी और जड़ नदी आदि तो स्थिर हो जाते हैं तथा अचल वृक्षोंको भी रोमाञ्च हो आता है। जादूभरी वंशीका और क्या चमत्कार सुनाऊँ।

इस प्रकार वेणुगीत प्रकरण पूरा हुआ लेकिन मोहनकी यह मुरली आज भी बजती है, सदा बजती रहेगी। परंतु जो मुरलीकी भाँति साधनमें प्रवृत्त होगा वही इस मधुर ध्वनिको भलीभाँति सुन सकेगा। वृन्दावनके प्रातःस्मरणीय भगवत्–सखाओंने और अन्तरंगा शक्ति गोपीजनोंने अपनेको

---

* इन प्रवचनोंके सभी कैसेट हमारे पास बिक्रीके लिये उपलब्ध हैं—प्रकाशक

इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुना था।

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था जो वे इस वंशीध्वनिको सुनते थे। और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते हैं जिनको आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनताका विसर्जन कर देती थी, परन्तु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं।

निरन्तर प्रमत्त होकर वंशीध्वनिके पीछे-पीछे अप्रमत्तरूपसे नाचना जिसके जीवनका स्वभाव बन जाता है, वही तो मुरलीमनोहरका प्रेमी है। कहते हैं फिर उसको वंशी-ध्वनि नित्य सुनायी देती है, क्षण-क्षणमें मनमोहन मुरली-स्वर उसे पथ-प्रदर्शककी मशालके समान मार्ग दिखलाया करता है।

इस जादूभरी मुरलीका नाद उन्मत्त कर देता है। महान् योगी भी इससे नहीं बच पाते। बचें कैसे ? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है। वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं--

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य।।

'निर्बीज-समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधि हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर विजय दुन्दुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली, भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है।'

contact Shri Shri Hari Krishna Dujari p.o.Geeta Vatika Gorakhpur U.P.(INDIA)phone +91/05512284742 for

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०—गीतावाटिका, गोरखपुर—२७३००६

फोन : (०५५१) २८४७४२, २८४५८२, २८२१८२

E-Mail:- rasendu@vsnl.com

हमारे प्रकाशन

१. श्रीभाईजी—एक अलौकिक विभूति (पू० श्रीभाईजी एवं श्रीसेठजीकी संक्षिप्त जीवनी) संयोजन श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी		६०.००
२. भाईजी चरितामृत (संयोजन श्रीश्यामसुन्दजी दुजारी)	(पू० भाईजीके शब्दोंमें उनके जीवन प्रसंग)	५०.००
३. सरस पत्र	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
४. व्रजभावकी उपासना	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००
५. परमार्थकी पगडंडियाँ	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
६. सत्संगवाटिकाके बिखरे सुमन	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
७. वेणुगीत	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
८. समाज किस ओर जा रहा है	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
९. प्रभुको आत्मसमर्पण	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१०. भगवत्कृपा	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
११. श्रीराधाष्टमी जन्म-व्रत महोत्सव	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	५.००
१२. शान्तिकी सरिता	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२०.००
१३. रासपंञ्चाध्यायी	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३५.००
१४. पारमार्थिक और लौकिक सफलताके सरल उपाय	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५.००
१५. क्या, क्यों और कैसे?	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
१६. साधकोंके पत्र		३०.००
१७. भगवन्नाम और प्रार्थनाके चमत्कार		३०.००
१८. रोगोंके सरल उपचार		३५.००
१९. मेरी अतुल सम्पत्ति		
२०. श्रीशिव—चिन्तन		२५.००
२१. आस्तिकताकी आधार—शिलाएँ	श्रीराधा बाबा	३५.००
२२. महाभागा व्रजदेवियाँ	श्रीराधाबाबा	३०.००
२३. केलि—कुञ्ज	श्रीराधाबाबा	७०.००
२४. परमार्थका सरगम	(श्रीराधाबाबा)	३०.००

भाईजी पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'कल्याण' (गीताप्रेस) के आदि-सम्पादक के कुछ कुछ गाम्भीर्य, अध्यात्मी एवं यादों की अंतरंग झलकी।

श्रीपद्मभाषाद-क्रमांक

१ हैं ४४ श्रीहनुमान कालातीत श्रीवेदांत ग्रंथ
२ हैं ११ श्रीमद्भगवत गीता श्रीवेदांत श्रेष्ठ
३ हैं ५० राजकमलाधारी प्रकाशनालय

आपा प्रकाशन

१ भगवान्नुराग को आकर्षक प्रतिनिधि
२ प्रेमिका सम्बन्ध प्रकाशन
३ प्रकाशनादि और प्रेमिका भाव
४ गुलाटीमेंका स्वर्गारोह
५ भगवान्की गति प्रकट होके हुई थी
६ भक्तिकाका प्रेमका और सन्त
७ भगवान्नुरागकी अनुभूति सम्पादन
८ हैंसने चाहोंकी अनोखी सम्पादन
९ अभिलाषें प्रधान करना चाहते
१० हैंसाद और प्रेमिका लिखा
११ अलगी सम्पादक अनुकूल प्रेम करें
१२ भगवान् प्रभावी जगी रोमांचित होकर लिखा
१३ प्रार्थित क्रीड़ा लिखे ?
१४ भगवान् अनुराग और विश्वासपूर्ण
१५ रंग और आनन्दपूर्ण पूर्ण हो जाएं
१६ हमारी विश्वास होंगे दूर हो ?
१७ भगवान्पुराण विश्वास करा प्रेमभक्ति हो जाएं
१८ सम्पादकी करें
१९ ऐसी कथाओं आदेश आसान
२० भगवान्पुराण अनुभूत भक्तिका
२१ प्रकाशनादि—नया संसार
२२ सम्पादकी प्रकाशनी करें
२३ आपाती एक रहस्यपूर्ण हो है पूजा सम्पादन
२४ सम्पादकें जिला भक्त आदर्शित
२५ आपाराधा का स्वरूप और सम्पादन
२६ सम्पादकी—स्वयं गई कोई धर्म
२७ श्रीगोपी का हृदयंगम भगवान्पुराण सम्पादकें
२८ हमारा आज पुराण होंगे करें
२९ भगवान्पुराण के स्वरूपता
३० भगवान्पुराण प्रेम
३१ सम्पादकीयका मुख्य
३२ लिंग का आर्य भगवान्पुराण हो—गोपनें करें
३३ हमिदीकिया प्रकाश एवं सम्पादित
३४ भगवान् श्रीगोपनें आकर्षणी प्रभावित
३५ श्रीपुराण—भगवान्पुराण सम्पादन की प्रकाश
३६ श्रीगोपीभावीकी द्वारा प्रकाशकाल
३७ सम्पादकीयमें पूजनी दिनचर्या प्रकाश
३८ जहां आपीमें भगवान्पुराण की पूजा करें
३९ आपने प्रकाशनादि द्वारा पुराणमें
हिंदू-भगवें आर्य प्रकाशक
४० श्रीपुराणकी आप श्रीभक्त प्रतिनिधि सम्पादन
४१ श्रीप्रकाशनादि प्रकाशन पुस्तक मिं ४४४
४२ श्रीगोपीभावीकी प्रकाशन प्रकाश मिं ४४४
४३ भगवान् प्रकाशें आपने हैं
४४ आपाती जिनकी प्रकाशन
४५ श्रीमद्भगवत्पुराणी द्वारा की भक्तकी हैं
आपाती भक्तने और भगवान्पुराणी प्रकाशनकाल
श्रीमद्भगवत्पुराणी भक्तका
४६ आपाती पुराणिकाल प्रकाशन
४७ आपाती पुराणिकाल पुराण भगवान्पुराण प्रकाशित
४८ प्रेम भगवें आपाती प्रकाशन पुराण
४९ पुराणकाली प्रेम कथा एवं आपाती प्रेमकाल
५० कहां हो जिनकाल होंगे हो
५१ आपाती गिरजन्म की प्रकाश
५२ श्रीगोपीभावीकी संदेश भगवान्पुराण
५३ श्रीगोपीभावीकी दिन का प्रकाशन
५४ श्रीगोपीभावीकी आपा का प्रकाशन
५५ भगवान्पुराणिकाली भगवान्पुराणी प्रकाशनी
५६ भगवान्पुराण भगवान्पुराण श्रीगोपीभावीकी
५७ जिनकाली हमारी प्रकाशनाल जिनकाल हैं
५८ हमारीकी भगवान् की प्रकाश

● ये सभी बुकलेट विक्रीके लिये हमारी ओर उपलब्ध हैं। जिज्ञासु पूरी पत्र भी पढ़कोंने आपा लिये भी भगवान् हैं। भगवान् इस पुस्तकों बुकलेट भी उपलब्ध हैं।

भाईजी पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार "कल्याण" (गीताप्रेस) के आदि-सम्पादक के सुने हुए भावपूर्ण प्रवचनों एवं पदों की कैसेट सूची।

श्रीमद्भागवत-कथा

१. दो ४४ मौकूण भागवतीकथा कैसेट सेट
२. दो ४१ वेणुगीत प्रवचन माला कैसेट सेट
३. दो ४० रासपंचाध्यायी प्रवचनमाला

अन्य प्रवचन

१. गोपालकृष्ण का अलख जोगिये
२. प्रेमका स्वरूप प्रवचन
३. सुदामाजी और प्रेमकी भाव
४. गोपीप्रेमका स्वरूप
५. भगवान्‌को पाने सबके लिये सुलभ
६. साधकका लक्ष्य और मार्ग
७. भगवत्कृपाकी अनुभूति व्याख्या
८. प्रेमकी मार्मिकी अनोखी व्याख्या
९. अंतरमें हरान लगा जारे
१०. वैराग्य और प्रेमका रिश्ता
११. अपनी साधनाके अनुकूल मन करे
१२. "भगवान् हमारे वहाँ टिम्बेदारी लेनेको तैयार
१३. शान्ति कैसे मिले ?
१४. भगवत् अनुराग और विषयानुराग
१५. दुख और आनन्दमें मूल क्या है
१६. हमारी चिन्ता कैसे दूर हो ?
१७. भगवान्‌पर विश्वास कर उनके हो जाये
१८. व्यवहारकी बातें
१९. दैवी सम्पत्तिके अमोघ साधन
२०. भगवन्नामकी अनुपम महिमा
२१. सत्संगति-सहज साधन
२२. साधककी उपयोगी बातें
२३. अंतरकी प्रेम व्यथाको ही है सुंदर व्याख्या
२४. साधनाके विघ्न भय-प्रलोभन
२५. आकांक्षाका त्याग और साधना
२६. सौदाबाजी-बहुत पड़ी मोटी ठगी
२७. मोहको फन कटाकर भगवान्‌के चरणोंमें
२८. हमारा काम तुरत कैसे बने
२९. मोक्षसे भी परे एक सुंदर व्याख्या
३०. भगवान्‌की प्रेम परवशता
३१. परमात्मप्राप्तिका मुख्य
३२. दिन भर जाने भगवान्‌की सेवा-चाहते जो
३३. प्रतिज्ञाकी रक्षाके एक घटना
३४. साधक जीवनके तीनकी आवि
३५. श्रीकृष्ण-जरासन्धकी प्रवचन सं० २०५० एवं श्रीगोरक्षपीठाधीश्वर द्वारा पदगायन
३७. जरासन्धकी दूसरे दिनका प्रवचन सं० २०५०
३८. सारे कर्मोंसे भगवान् की पूजा करें
३९. अपने सदाचरणों द्वारा दूसरोंके सद्-गुणों का उपार्जन
४०. श्रीकृष्णके प्रेम भोजन लीलाका गायन
४३. श्रीरामायणी प्रवचन सुंदर सं० २०५०
४४. श्रीरामायणी प्रवचन माला सं० २०५०
४५. भगवान् हमारे अपने हैं
४६. अपनी प्रेमकी पहचान
४७. निराश भगवत्स्मृतिसे कैसे हो सकती है
४८. भजन और भगवान्‌की आवश्यकता
४९. अपने व्यवहारकी चर्चा
५०. शरद पूर्णिमापर प्रवचन
५१. शरद पूर्णिमापर पू० दामोदरका का संदेश
५२. प्रेम पानेमें बड़प्पनके सहायक मुख
५३. सुदामाकी प्रेम कथा एवं अपनेमें प्रेमभाव
५४. कल ही विश्वास कैसे हो
५५. शान्ति मिलने के उपाय
५६. श्रीरामायणीका श्रेष्ठी व्याख्यान
५७. श्रीरामायणीके दिन का प्रवचन
५८. श्रीरामायणीके बाद का प्रवचन
५९. भगवद्विश्वासकी चमत्कारी घटनाएँ
६०. साधनासे साध्यमें अधिक महत्त्व है
६१. जीवनकी सच्ची सफलता किसमें है
६२. बुराईसे बचने के उपाय

● ये सभी कैसेट बिक्रीके लिये हमारे यहाँ उपलब्ध हैं। विस्तृत सूची पत्र भी यहींसे प्राप्त किये जा सकते हैं। भजन एक घंटेके कैसेट भी उपलब्ध हैं।

२२. अन्तरंग वार्तालाप	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२३. भगवान श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलायें	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	२५०.००
२४. यज्ञपत्नियों पर कृपा	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२५. रस और आनन्द	भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२६. भगवत्कृपाके अनुभव	सम्पादक–भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२७. योग एवं भक्ति	सम्पादक–भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२८. भारतीय नारी	सम्पादक–भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
२९. भगवत्कृपाके चमत्कार	सम्पादक–भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार	३०.००
३०. आस्तिकताकी आधार–शिलाएँ	श्रीराधा बाबा	३५.००
३१. महाभागा व्रजदेवियाँ	श्रीराधाबाबा	३०.००
३२. केलि–कुञ्ज	श्रीराधाबाबा	७०.००
३३. परमार्थके सरगम	श्रीराधाबाबा	३०.००
३४. पद–रत्नाकर—एक अध्ययन	श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	३०.००
३५. दिव्य हस्तलिखित संकेत	संयोजक–श्रीश्यामसुन्दरजी दुजारी	५०.००
३६. श्रीराधा–गुण–गान		३०.००
३७. श्रीकृष्णजन्माष्टमी–महोत्सव	संकलनकर्ता–श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी	९०.००
३८. श्रीराधाकृष्णकी मधुर लीलायें		३०.००

हमारे प्रकाशन एवं कैसेट प्राप्तिके अन्य स्थान

गोरखपुर :–श्रीहरिकृष्ण दुजारी, पो०.–गीतावाटिका, गोरखपुर, फोन–२२८४७४२

कलकत्ता :– श्रीसुशीलकुमार मूँधड़ा, ८, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, (८ वाँ तल्ला)
फोन० २४६४०६००, २४६६२६४१
२–श्रीकमलकुमार अग्रवाल, ४२, विवेकानन्द रोड, कोलकाता–७,
फोन–२२७२८०७,

वाराणसी :—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट, दुर्गाकुण्ड रोड

दिल्ली :— श्रीमोहनलाल दुजारी ५०४, स्काईलार्क, ६० नेहरू प्लेस, दिल्ली–१९
फोन–२६४३८६०५, २६४६५२८४

गाजियाबाद :—श्रीशिवकुमार दुजारी के०आई० १५५, कविनगर, गाजियाबाद–२
फो०–(०१२०) २७०३११३

वृन्दावन :—खण्डेलवाल एण्ड सन्स, अठखम्भा बाजार, वृन्दावन
फोन : (०५६५) २४४३१०१ (आ), २४४२१०० (नि०)

स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश):—श्रीविष्णु पुस्तक भण्डार, स्वर्गाश्रम

मथुरा– श्रीकृष्ण जन्मभूमि सेवा संस्थान, फोन–२४२३७१४

जयपुर– श्रीहरि: पुस्तक प्रचार केन्द्र, बुलियन बिल्डिंग, हल्दियोंका रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२००३, फोन– २५७०६०२

भाईजी पूज्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
'कल्याण' (गीताप्रेस) के आदि–सम्पादक
के चुने हुए भावपूर्ण, प्रवचनों एवं पदों की
कैसेट सूची।

श्रीमद्भागवत–कथा

१ से ४४ श्रीकृष्ण बाललीला कैसेट सेट
१ से ११ वेणुगीत प्रवचन माला कैसेट सेट
१ से १० रासपंचाध्यायी प्रवचनमाला

अन्य प्रवचन

१. भागवत्कृपा का आश्रय लीजिये
२. प्रेमका सच्चा स्वरूप
३. शरणगति और प्रेमके भाव
४. गोपीप्रेमका स्वरूप
५. भगवान्‌की गोद सबके लिये सुलभ
६. साधकका लक्ष्य और मार्ग
७. भगवत्कृपाकी अनूठी व्याख्या
८. प्रेमके भावोंकी अनोखी व्याख्या
९. आँखोंमें श्याम समा जायें
१०. वैराग्य और प्रेमका रिश्ता
११. अपनी साधनाके अनुकूल संग करें
१२. 'भगवान् हमारी सारी जिम्मेदारी लेनेको तैयार
१३. शान्ति कैसे मिले ?
१४. भगवत् अनुराग और विषयानुराग
१५. रस और आनन्दमें चूर हो जावें
१६. हमारी चिन्ता कैसे दूर हो ?
१७. भगवान्‌पर विश्वास कर, उनके हो जावें
१८. व्यवहारकी बातें
१९. प्रेमी बननेके अमोघ साधन
२०. भगवन्नामकी अनुपम महिमा
२१. शरणगति–सरल साधन
२२. साधनकी उपयोगी बातें
२३. असली प्रेम त्यागमें ही है सुंदर व्याख्या
२४. साधनाके विघ्न: भय–प्रलोभन
२५. अन्तरंगता का स्वरूप और साधना
२६. चेतावनी–बहुत गई थोड़ी रही
२७. भोगोंसे मन हटाकर भगवान्‌में लगाओ
२८. हमारा काम तुरंत कैसे बनें
२९. भक्तिके पाँच रस सुंदर व्याख्या
३०. भगवान्‌की प्रेम परवशता
३१. भगवत्प्राप्तिका सुख
३२. दिन भर कार्य भगवान्‌की सेवा–भावसे करें
३३. इन्द्रियोंका संयम एवं परहित
३४. मानव जीवनके लक्ष्यकी प्राप्ति
३६. श्रीकृष्ण–जनमाष्टमी प्रवचन सं० २०१७ एवं श्रीगोस्वामीजी द्वारा पदगायन
३७. जन्माष्टमीके दूसरे दिनका प्रवचन २०१७
३८. सारे कर्मोंसे भगवान् की पूजा करें
४१. अपने सदाचरणों द्वारा दूसरोंमें सद–भावों का उन्नयन
४२. श्रीकृष्णके वन भोजन लीलाका ध्यान
४३. श्रीराधाष्टमी प्रवचन सुबह सं० २०१७
४४. श्रीराधाष्टमी प्रवचन शाम सं० २०१७
४५. भगवान् हमारे अपने हैं
४६ए. असली प्रेमकी पहचान
४६बी. निरन्तर भगवत्स्मृति कैसे हो सकती है
४७ए. भजन और भगवान्‌की आवश्यकता
४७बी. अच्छे व्यवहारकी महत्ता
४८. शरद पूर्णिमापर प्रवचन
४९. शरद पूर्णिमापर पू० राधाबाबा का संदेश
५०. प्रेम मार्गमें बढ़नेके सहायक सूत्र
५१. सुदामाकी प्रेम कथा एवं अपनेमें दैन्यता
५२. कल ही निष्पाप कैसे हो
५३. शान्ति मिलने के उपाय
५४. श्रीराधाष्टमीका षष्टी महोत्सव
५५. श्रीराधाष्टमीके दिन का प्रवचन
५६. श्रीराधाष्टमीके बाद का प्रवचन
५७. भगवद्विश्वासकी चमत्कारी घटनाएँ
५८. साधनाको साध्यसे अधिक महत्त्व दें
५९. जीवनकी सच्ची सफलता किसमें है
६०. बुराईसे बचने के उपाय

● ये सभी कैसेट बिक्रीके लिये हमारे यहाँ उपलब्ध हैं। विस्तृत सूची पत्र भी यहाँसे प्राप्त किये जा सकते हैं। भजन एव पदोंके कैसेट भी उपलब्ध हैं।